सप्त व्यसन चरित्र

आचार्य वसुनंदी मुनि

सप्त व्यसन चरित्र

(आचार्य श्री सोमकीर्ति भट्टारक विरचित)

-:संपादन:-

आचार्य वसुनंदी मुनि

प्रकाशक:

निर्ग्रंथ ग्रंथमाला समिति रजि.

ॐ ह्रीं नमः

द्वितीय संस्करण : सितम्बर 2017
प्रतियाँ : 1,000

सप्त व्यसन चरित्र

आचार्य वसुनंदी मुनि

मंगलाशीषः

प.पू. राष्ट्रसंत, सिद्धांत चक्रवर्ती दि. श्वेतपिच्छाचार्य श्री 108 विद्यानंद जी मुनिराज

प्रकाशकः

निर्ग्रंथ ग्रंथमाला समिति रजि.

मुद्रक :जैन रत्न सचिन जैन "निकुंज"
संपादक श्री सत्यार्थी मीडीया मासिक
मो. 9058017645

प्रस्तुत पुस्तक में मुद्रित समस्त सामग्री, आवरण पृष्ठ, चित्रादि के सम्बन्ध में प्रकाशक के सर्वाधिकार सुरक्षित हैं। इसके किसी भी अंश को पूर्व में बिना लिखित अनुमति के मुद्रित करना या करवाना, कॉपीराइट नियमों का उल्लंघन होगा, जिसका सम्पूर्ण दायित्व उन्हीं का होगा और हर्जे – खर्चे के लिए स्वयं जिम्मेदार होंगे ।

संपादकीय

-आचार्य वसुनंदी मुनि

"व्यसन" शब्द के पं. प्रवर धरसेन जी ने अशुभ, आसक्ति, अनिष्टफल, विपत्ति, विफल, उद्यम, कर्मफल, भाग्यवश, स्त्री, आदत और धर्माचरण से गिरना इत्यादि अर्थ बताये हैं, **"अथवा यः पुरुषान् धर्ममार्गात् व्यस्यति पातयति सः व्यसनः।।"** अर्थात् जो पुरुषों को धर्म मार्ग से पतित करे वह व्यसन है। अथवा **"यत् पुंसः श्रेयसः व्यस्यति तद् व्यसनं"** जिससे पुरुष श्रेय मार्ग से पतित हो जाये, गिर जाये वह व्यसन है। अथवा वह बुरी आदत जो जिन्दगी रूपी वृक्ष का रस सोख कर अमरबेलि की तरह निरंतर वृद्धिंगत होती है और अपने आश्रय का सर्वस्व नाश कर देती है, वह एक बार भी जीवन रूपी वृक्ष पर छा जाये तो तब तक नहीं छोड़ती जब तक कि पूरा वृक्ष सूख नहीं जाये। यद्यपि व्यसन शब्द का प्रयोग प्रायः सामान्य आदत के लिए होता है किन्तु वर्तमान काल में वह बुरी आदत के लिए ही रूढ़ हो गया है।

ये व्यसन सम्यक्त्व के घातक व मिथ्यात्व के पोषक हैं, ज्ञान के नाशक, अज्ञान, मान, "अपमान के उपासक हैं, व्रत-उपवास, यम-नियम", संयम आदि की सुखद फसल चेतना की भूमि से मात्र नष्ट ही नहीं करते अपितु साथ में भूमि को ऐसी बंजर व ऊसर भी बना देते हैं जिससे धर्म का बीज उस में सहज या सामान्य परिश्रम से उत्पन्न ही न हो सके। यह व्यसन (जिसका अर्थ बुरी आदत या धर्म से गिरना यहाँ लिया है।) सम्यक् चारित्र रूपी वृक्ष को काटने वाला आरा है, संक्लेषता, आपत्ति-विपत्ति रूपी कीचड़ की धारा है, चेतनता का दमन, दुर्गति गमन, सद्गुणों का हवन एवं अमन-चैन का वमन कराने वाला है। व्यसन का अर्थ मानवता का मरण ही नहीं धर्म का अपहरण भी है, नाम को बदनाम, धर्माचरण व पवित्रतम जीवन का काम-तमाम करने वाला है। यह मीठा बदमाश इन्द्र जालिया (जादूगर) है। पाप रूपी वृक्षों (दुःख फल से युक्त) को सिंचन हेतु खाद्य व जल के समान है।

पुण्यरूपी प्राणों को नष्ट करने वाला गरत है, उत्तम क्षमादि गुणों का गला घोंटने वाला दमा जैसा (प्राणों को पीड़ा कारक) भयंकर रोग है। सप्त श्वभ्रों को जाने हेतु वातानुकूलित बिना व्यवधान का शीघ्रगामी वाहन है। विवेक को नष्ट कर, धर्म से भ्रष्ट कर निस्सीम कष्टों को देने वाला है। यह अहिंसा,करुणा, दया,परोपकार, प्रेम, वात्सल्य, मैत्री, प्रमोद, धर्मानुराग संयम आदि गुणों का प्राणान्त करने वाला तीव्र व शीघ्र असरदार विष है। मानवता का घातक अस्त्र, जीवन में से सत्यता का नाम निःशेष करने वाला शस्त्र है। यह हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह/मूर्च्छा आदि पापों का जनक है, अशांति, संक्लेशता, दरिद्रता, हीनता, निर्धनता, भुखमरी, बेराजगारी, गरीबी, निंदा, बदनामी, बेइज्जती, कलह प्रियता, विषयासक्ति, निर्दयता, मायाचारी, अनीति, निर्लज्जता, मादकता, पराधीनता, दुर्बलता इत्यादि इस व्यसन की सभी बेटियाँ हैं। विवेक हीनता, विकलता, अवकुण्ठा, दरिद्रता आदि इसकी सहवासिनी प्राण वल्लभा हैं। क्रोध, बैर, अहंकार, मिथ्योपदेश, अपवादि, संताप, अपमान, लोभ, क्रूरता, अत्याचार, भय, शोक, रोग, उद्वेग, स्वच्छंदता इत्यादि इसके सगे भाई हैं। इसके पास प्रमुख सात मुखौटे हैं। यह किसी भी मुखौटे को पहन कर जब मानव जीवन में प्रवेश करता है तो हर विवेकी मानव इसे दूर खदेड़ देता है किन्तु, अविवेकी प्राणी के लिए यह अत्यंत लुभावना, सुहावना, मनोहर, चित्ताकर्षक, सुरम्य ही प्रतिभासित होता है। यह एक ऐसा मीठा बदमाश है जिसकी चाल व माया जाल में अच्छे-अच्छे राजा-महाराज भी फँस गए। यह जब अपने अभिन्नतम प्रिय मित्रों (पापपुंज, सर्वस्व स्वाहा, भव वर्द्धन, अनंत दुख) के साथ जब आता है, तब वे बड़े-बड़े धीर-वीर वैरागी-विद्यावान भी इसके सामने चारों खाने चित्त हो जाते हैं और इसकी आधीनता स्वीकार कर अपना अहो भाग्य मान लेते हैं।

"बड़ा मजा आता है" वाह! बहुत अच्छा है, क्या कहने! इत्यादि बाह्य सुखाभासों व विलासता के शीतल जल के पीने के लोभ से अविवेकी जब आगे बढ़ता है तो व्यसनों की दल-दल में ऐसा फँस जाता है कि निकलना उसके लिए मुश्किल हो जाता है और वह उसमें धँसता ही चला जाता है। स्वतः कर्मों

के जालों में कसता चला जाता है, कदाचित इस व्यसनी को कोई डाँट फटकार कर, कोई प्रेम से हस्तावलम्बन देकर निकालना चाहें तो यह निकलना नहीं चाहता, कदाचित् यह स्वयं कभी निकलना चाहे तो इसके समीप (जमघट) लगाये बैठे स्वार्थी, मोहांध, विषयांध इसे पुनः खींच कर इसी दल-दल में दबोच लेते हैं। तरस आता है व्यसनी की ऐसी दशा पर।

एक क्षण के विवेकहीन सुख के लोभ ने दीर्घकाल के लिए दुःख के गर्त में पटक दिया, किसी शायर ने कहा भी है-

"तवारीखि में कुछ ऐसे मंजर भी नुमाया हैं।
जहाँ लम्हों ने खता की सदियों तक सजा पाई।।"

ये व्यसन मुख्य रूप से सात हैं- जुआ खेलना, माँस खाना, शराब पीना, चोरी करना, शिकार खेलना, वेश्या सेवन करना, परस्त्री गमन करना। ये व्यसन जीव को अत्यंत भयंकर नरक में ले जाते हैं।

जुआः- हार-जीत के खेल जुआ कहलाते हैं, जो निंद्य हैं, दुःख के कारण हैं, प्रतिष्ठा को नष्ट करने वाला है। जुए से धर्म, लक्ष्मी, सुबुद्धि, सुख, सत्य, शौच, श्रद्धा, विश्वास और सद्गति ये दस बातें नष्ट हो जाती हैं। विषाद्, कलह, झगड़ा, क्रोध, मान, बुद्धिभ्रम, चुगली, मत्सर और शोक ये जुआ के सहोदर हैं। जुआ से कुल में कलंक लगता है, पृथ्वी पर अपयश फैलता है, मन में पश्चाताप होता है, अपने गौरव का नाश होता है, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थों का नाश हो जाता है, उभय लोक में यह दुःख का कारण है। जुआरी की लक्ष्मी न तो परोपकार, स्वहित, सुख, शांति, कीर्ति के लिए होती है और न ही दान आदि सत्कार्यों व धर्मानुष्ठानों के लिए होती है किन्तु वह पापों को वृद्धिंगत करने वाली ही होती है।

जुआरी मनुष्य का लंगोट ही वस्त्र है, कुन्दन ही भोजन है, धूलि धूसरित पृथ्वी ही शय्या है, भण्डवचन वार्तालाप हैं, विट्ठ पुरुष, पापीजन, वेश्याएँ ही इसके कुटुम्बीजन हैं, धोखा देना, व्यापार है। जुआरी, चोर, व्यभिचारी मित्र हैं। सत्पुरुष व धर्मात्मा जन शत्रु हैं, जुआरी का यही संसारवास का क्रम है। ऐसा जुआ व्यसन सतपुरुषों को सदैव त्याज्य है।

माँस खानाः- दो इन्द्रिय आदि जीवों का कलेवर माँस है। माँस भक्षी निर्दयी होता है पापिष्ठ, दुष्ट, निष्ठुर, क्रूर, हत्यारा होता है। माँसभक्षी धर्म का नाम भी सुनना नहीं चाहता है।

जो शीघ्र उत्पन्न होने वाले सम्मूर्च्छन जीवों की संतति से दूषित है, नरक के मार्ग का संबल है, ऐसे माँस को कौन विवेकी खायेगा? अर्थात् कोई नहीं।

स्थावर व त्रस के भेद से जीव के दो भेद हैं। माँस त्रस जीवों का कलेवर है और फल स्थावर कहलाते हैं। यद्यपि त्रस और स्थावर जीवत्व की अपेक्षा समान है। फिर भी दोनों में महान अंतर है, जिस प्रकार स्त्रीत्व की अपेक्षा माँ, पत्नी, बहिन, पुत्री सब समान हैं। किन्तु भोग्या पत्नी ही होती है, माँ आदि नहीं, इस प्रकार भोज्य शाकाहार ही है माँसाहार नहीं।

त्रस जीवों के शरीर में वीर्य ब्रह्म हैं, माँस विष्णु है, अस्थि समूह ईश्वर है इस प्रकार लौकिक किवदंती है। (महा-भारत में कहा गया है) ऐसे माँस को कोई कैसे खाएगा, जीव का शरीर माँस है। किन्तु प्रत्येक शरीर माँस नहीं होता जैसे प्रत्येक नीम का वृक्ष, वनस्पति है, किन्तु प्रत्येक वनस्पति नीम तो नहीं होता । अतः आत्मसुखाभिलाषियों को यह माँस सेवन सर्वथा-सर्वदा ही त्याज्य है।

मद्य सेवन (शराब पीना):- सड़े गले पदार्थों से शराब बनाई जाती है। इसके निर्माण में ही अनंत जीवों का घात होता है, अहिंसा प्रेमी कभी ऐसी निंदनीय वस्तु को छुएगा भी नहीं।

"विरूपता, बीमारी, पीड़ा, आत्मीयजनों के द्वारा तिरस्कार, कार्य के समय का उल्लंघन, द्वेष, बुद्धि विनाश, स्मृति हरण, ज्ञान विनाश, वियोग, (सत्पुरुषों के साथ) कठोरता, निम्न सेवन, कुचालकों का विकसित होना इत्यादि मद्यपान के दोष शास्त्रों में वर्णित है।"

मद्य (शराब) लज्जारूप धन को हरने वाला है, कुल का अंत करने वाला है, चित्त को संताप देने वाला है, अत्यंत नीच जनों को प्रसन्न करने वाला है, प्रमाद को करने वाला है, शील को विध्वंस करने वाला है, शिल्पज्ञान

का विनाशक है, स्मृति को हरने वाला है और पवित्रता का सर्वथा नाश करने वाला है, इस प्रकार दोषों के हजारों मार्ग से कुटिल हैं फिर ऐसे मद्य को क्यों पीना चाहिए? अर्थात् मद्य का कभी भी सेवन नहीं करना चाहिए।

मद्य (शराब) सब दोषों में प्रमुख है, अधर्म को उत्पन्न करने वाला है, लज्जा और स्मृति का विध्वंस करने वाला है। धन का भी नाश करने वाला है, विह्वल बनाने वाला है, मूर्ख मनुष्य ही सदा इसका सेवन करते हैं, जिसे पीकर परस्त्री सेवन और चोरी करने के लिए गमन होता है, हिंसा, झूठ और व्यर्थ का बकवाद आदि दोषों के समूह स्वयं आ जाते हैं, उस मदिरा को कोई भी न पीवे।

मद्य, चिन्ता को बढ़ाने वाला है, शरीर को दुर्बल करने वाला है, विघ्न, अदया और क्रूरता को उत्पन्न करने वाला है, स्नेह को छेदने वाला है, अर्थ का नाश करने वाला है, अत्यधिक क्लेश को प्राप्त करने वाला है और गुणों से रहित है। पृथ्वी तल पर वे मनुष्य धन्य हैं और वे ही प्रतिदिन वन्दनीय हैं जिन्होंने वध-बन्धन रूप दोषों से भरे हुए मद्य का सदा के लिए त्याग कर दिया है।

चोरी:- वस्तु के स्वामी को बिना पूछे उसकी वस्तु लेना या किसी और को दे देना चोरी है अथवा किसी की भूली हुई, पड़ी हुई, रखी हुई वस्तु को ग्रहण करना चोरी कहलाती है। चोरी करना पाप ही नहीं महापाप है। चोरी करने वाला जीव, निंदा, विवाद, कलह, दुःख व संक्लेशता को प्राप्त करता है, परभव में नरकादि दुर्गति में घोर दुःखों को भोगता है।

चोरी रूप पाप वृक्ष के फल इस लोक में वध-बन्धन आदि होते हैं और परलोक में नरक की वेदना प्राप्त होती है। आत्म कल्याण के इच्छुक महानुभावों की चोरी का दूर से त्याग कर देना चाहिए और अचौर्य महाव्रत या अचौर्याणुव्रत को ग्रहण कर के जीवन को अलंकृत करना चाहिए।

शिकार :- प्रमादवश या बुद्धि पूर्वक, मनोरंजन के लिए अथवा माँस भक्षण हेतु किसी जीव के प्राणों का हरण करना शिकार भ्रमण व्यसन है। इस व्यसन में संलिप्त व्यक्ति इस भव में पुत्र वियोग, पत्नी वियोग, पति वियोग, मातृ-पितृ

वियोग, शारीरिक वेदना, अनिवारणीय रोग, अकाल मृत्यु, पक्षाघात, कैंसर आदि का शिकार हो जाता है, इतना ही नहीं शिकारी जीव नरक में सागरों पर्यन्त काल तक असहनीय करोड़ों जिव्हाओं से अकथनीय व मन से अचिन्त्यनीय दुखों को भोगते हैं।

"शिकार में आसक्ति रखने वाला मनुष्य महाभयंकर नरक में बार-बार पीड़ित होता है और बहुत दुःखों को प्राप्त करता है।" "हे पाण्डव! पशुओं के शरीर में जितने रोग होते हैं उतने हजार वर्ष तक पशुओं का घात करने वाले मनुष्य अग्नि में या उबलते हुए तेल के कड़ाहे में पकाये जाते हैं।"

वेश्या व्यसनः- जो धन आदि के लोभ से अपने शील धर्म को बेचकर व्यभिचार करती हैं, देह से व्यापार करती हैं, अनेक पुरुषों से सम्बन्ध रखती हैं, या धन के लोभ से अमीर पुरुषों के साथ सहवास करती हैं वे वेश्यायें/बाजारू स्त्री या अभिसारिकायें कहलाती हैं। ऐसी स्त्रियाँ सभ्य, शिष्ट धार्मिक संस्कारों से युक्त समाज में नहीं होतीं हैं। जो नर-विर और सैनिक जनों के द्वारा भोगी गई हैं, सत्य शौच आदि गुणों से जो रहित हैं, सैकड़ों कपूटों का भण्डार हैं, शिष्टजनों की निन्दा का प्रमुख कारण हैं, अनादर का अद्वितीय स्थान है, धन की समाप्ति करने वाली हैं और सद्गुणों को छिपाने वाली हैं, ऐसी वेश्याओं का सेवन कौन करेगा? अर्थात् कोई नहीं।

"धोबी की शिला के समान अथवा कूड़े - कचरे के समान चरित्र वाली वेश्याओं के साथ यदि संगम है तो संसार में परलोक वार्ता करना ही व्यर्थ है।

एक बार भी वेश्यावृत्ति करने से इतने पाप बंध हो जाता हैं, जिसे कोई श्रावक पूरे जीवन भर पुण्य साधना करके भी समूल नष्ट नहीं कर पाता। अतः वेश्यासेवन जैसे जघन्यतम अपराध को विवेकी पुरुषों व सत्पुरुषों द्वारा छोड़ दिया जाता है।

परस्त्री गमनः- भारतीय संस्कृति में लोक व्यवहार व न्याय की मर्यादा के अनुसार जिसे अपनी पत्नी रूप ग्रहण नहीं किया, जिसके साथ पाणिग्रहण संस्कार (विवाह) नहीं हुआ है, ऐसी सभी स्त्रियाँ परस्त्री ही हैं। स्वकीय पत्नी

को छोड़कर शेष सभी नारी जाति पर-स्त्रियाँ हैं। उनके साथ गलत सम्बन्ध बनाये रखना "परस्त्री गमन" नामक व्यसन है। स्वकीय पत्नी के अतिरिक्त शेष सभी स्त्रियाँ माता, बहिन व पुत्री के समान होती हैं। समवयस्क बहिन, अधिकायु वाली माँ एवं स्वयं से कम आयु वाली पुत्रीवत होती हैं। जो व्यक्ति परस्त्री के साथ गलत व्यवहार रखता है, उसके हृदय में न अहिंसादि धर्म ठहर सकता है और न सत्य वचन बोल सकेगा। चोरी से पाप करता ही है अतः चोर भी है, कुशील पाप भी कर ही रहा है तथा उसके लिए बाह्य परिग्रह भी जोड़ेगा, अंतरंग परिग्रह तो है ही, बाह्य चेतन परिग्रह भी है। ऐसा जीव नियम से पाँचों पाप में गुप्त रूप से प्रवृत्ति करता ही है। परस्त्री गमन पाप में संलिप्त व्यक्ति सातों व्यसन का भी किसी न किसी रूप में अवश्य ही सेवन करता ही है। ऐसे व्यक्ति की संगति कभी सद्गुणों को पैदा नहीं कर सकती। ऐसे व्यक्तियों की संगति में रहने वाला भी ऐसा ही होगा या हो जायेगा। परस्त्री गामी व्यक्ति निर्लज्ज, विवेकहीन, ढीठ, कामासक्त, मायाचारी, लोभी, क्रोधी, असत्यवादी, भीरू, निर्दय, क्रूर परिणामी होता है। एक बार संलिप्त हुआ व्यक्ति पुनः उससे विमुख होने में सहज असमर्थ होता है। येन-केन प्रकारेण उस स्त्री को न पाकर अन्य-अन्य में लीन होता है, उनके साथ व्यभिचार करेगा। वेश्यागामी तो केवल "एक वेश्या को ही भ्रष्ट करता है, या भ्रष्टा के साथ ही भ्रष्ट होता है किन्तु परस्त्री गामी स्वयं के साथ अनेक को भ्रष्ट करने में निमित्त बनता है।

जो बहुत दुःखों को देने वाला है, मित्रों के बीच हँसी कराने वाला है, दुर्जनों को प्रिय है, सज्जन पुरुषों के लिए शोचनीय है, ऐसा निन्दित परस्त्री समागम का सुख जिसने प्राप्त किया है, उसने अपनी आत्मा को दुःखदायक नरक में, धन को राजा में, कुल को निंदा में, दीनता को हृदय में और अपकीर्ति को तीनों लोकों में स्थापित किया है।

काम से पीड़ित जिस दुर्बुद्धि मनुष्य ने परस्त्री समूह का उपभोग किया है, उसने संसार में अपनी अपकीर्ति की भेरी बजवायी है, उच्च गोत्र पर काली स्याही का ब्रुश फेर दिया है, चारित्र को जलांजलि दी है, गुण समूह रूपी

ग्राम में दावानल लगाया है समस्त आपत्तियों के लिए संकेत दिया है और मोक्ष नगर के द्वार पर मजबूत किवाड़ लगाया है।

व्यवसन भी सात होते हैं और नरक भी सात ही हैं, अतः ऐसा प्रतिभासित होता है कि मानों विधाता ने सातों नरकों में जाने के ये सात द्वार ही बनाये हों। बुद्धिमानों को इन सप्त व्यसनों का दूर से ही त्याग कर देना चाहिए।

इन सप्त व्यसनों में क्रमशः जुआ में युधिष्ठर, माँस खाने में बकराजा, मद्यपान में यदुवंशी राजकुमार, चोरी करने में जटा जूटधारी तापसी व शिवभूति ब्राह्मण, शिकार खेलने में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती, वेश्या सेवन में चारुदत्त तथा परस्त्री गमन में रावण विख्यात हुआ। ग्रंथकार कहते हैं कि इन लोगों ने एक ही व्यसन के सेवन से अनेक दुःख भोगे तथा अग्रिम भव में भी अधिकांश दुर्गति को प्राप्त हुए, तब जो सभी व्यसनों का सेवन करते हैं वे सुगति व सुख शांति को कैसे प्राप्त कर सकेंगे?

प्रस्तुत ग्रंथ सप्त व्यसन चरित्र आचार्य सोमकीर्ति भट्टारक द्वारा विरचित है, इसमें सप्त व्यसनों का स्वरूप व कुख्यात अधम पुरुषों का जीवन चारित्र है। भाषा अत्यंत सरल, सहज व रोचक है, बालक से लेकर वृद्ध तक भी इसे आसानी से पढ़ सकते हैं। यह लघु काय ग्रंथ अपने आप में अत्यंत महत्वपूर्ण है व्यसनों में संलिप्त व्यक्तियों के लिए सन्मार्ग दर्शायक प्रकाश किरण के समान है तथा धर्म से पतित व्यक्तियों के लिए वैशाखी के समान है।

आचार्य प्रवर सोमकीर्ति जी, आ० भीमसैन के शिष्य थे, भीमसेन के गुरु लक्ष्मणसेन थे तथा लक्ष्मनसेन के गुरु रत्नकीर्ति थे तथा रत्नकीर्ति के गुरु रामसेन थे। आ० सोमकीर्ति विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुए। इन्होंने प्रद्युम्न चरित्र आदि कई ग्रंथों की रचना की।

प्रस्तुत ग्रंथ के प्रकाशन में सहयोगी संघस्थ मुनिराज, ऐलक जी, छुल्लक जी व सभी त्यागी व्रती रहे हैं, एतदर्श उन्हें यथायोग्य प्रतिनमोस्तु एवं सुममाधिरस्तु आशीर्वाद । अपने न्यायोपार्जित धन का सदुपयोग करने वाले सुधी श्रावक महानुभाव को धर्मवृद्धि आशीर्वाद भविष्य में भी जिनवाणी की

इसी तरह सेवा करते रहें और अपने मानव भव को सफल और सार्थक करें।

प्रस्तुत ग्रंथ में जो कुछ अच्छाईयाँ हैं उन्हें आचार्य महोदय का परम प्रसाद मानकर ग्रहण करें एवं जो भी त्रुटियाँ रह गयी हैं, वे सब मेरी अल्पज्ञता, अस्वस्थता व असमर्थता का प्रतीक हैं, अतः विज्ञजन क्षमा करें। सम्पादन कार्य में जो त्रुटि रह गयी हैं उन्हें संशोधन हेतु अभेद रत्नत्रयधारी मुनिराज, पाठक व सूरिवर दिशा निर्देश देकर अनुग्रहीत करें। सुधी श्रावक व श्रमण अद्येत, पाठक व स्वाध्याय प्रेमी महानुभाव हंसवत् गुण ग्राही दृष्टि बनाकर इसका आद्योपांत स्वाध्याय करें। ग्रंथ अत्यंत जीर्ण शीर्ण अवस्था में प्राप्त हुआ था, अतः उसी का समीचीन सम्पादन करने का मैंने यह लघु प्रयास किया है।

धर्मो वर्द्धताम् **सर्वेषां मंगलं भवतु** जैन जयतु शासनं

श्री शुभमिती - पौष वदी सप्तमी
वी. नि0 सं. - 2541, विं सं0 2072
शुक्रवार, 01 जनवरी 2018

ॐ ह्रीं नमः
संयमानुरक्तः जिनचरणं चंचरीकः
निर्ग्रंथ सूरि कश्चिदल्पज्ञ श्रमणः
अतिशय क्षेत्र
देहरा तिजारा, अलवर (राज.)

भट्टारक श्री सोमकीर्ति विरचितं

सप्त व्यसन चरित्र

।। हिन्दी अनुवाद ।।

ग्रन्थ के आदि में-अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह रहित तथा संसारी जीवों के लिए उनकी अभिलाषा के अनुसार मनोरथ के पूर्ण करने वाले श्री-पंच परमेष्ठि को, कल्याण के परम्परा की लता और जिन भगवान के मुखकमल से उत्पन्न हुई श्री शारदा देवी को तथा गुरुओं के पदपंकज को सप्रमोद भक्तिपूर्वक नमस्कार करके जीवों के सुख के लिए अपनी बुद्धि के अनुसार सप्त व्यसन चरित्र के लिखने का प्रारम्भ करता हूँ।

उन व्यसनों के नाम ये हैं:-

जुआ खेलना, माँस का खाना, मदिरा का पीना, वेश्याओं का सेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना तथा पराई स्त्रियों के साथ व्यभिचार करना। इन सातों व्यसनों में से एक-एक व्यसन के सेवन से जिन-जिन लोगों ने अनेक तरह के दुःख भोगे हैं, उन्हीं का विशेष चरित्र कहने की मेरी इच्छा है।

जुआ के खेलने से धर्मात्मा युधिष्ठिर महाराज ने अपना राज्य रसातल (नरक) में पहुँचाया, माँस के खाने से बक नामक राजकुमार ने, मदिरापान से तेजस्वी यादवों ने, वेश्याओं के जाल में फँसकर चारुदत्त ने, शिकार के खेलने से ब्रह्मदत्त, हरणमात्र से प्रतापी रावण आदि ने दारूण दुःख भोगे हैं, तो अब बुद्धिमान पुरुष स्वयं विचार कर सकते हैं, कि जो लोग सातों व्यसनों का सेवन करने वाले हैं, उनका क्या होता है?

इन सातों व्यसनों के सम्बन्ध में किसने विचार किया, किसने उपदेश

दिया और किसने पूंछा; ये सब बातें स्पष्ट करने के लिए ग्रन्थकार संक्षेप में कथा के अवतार का सम्बन्ध कहे देते हैं-

सुप्रसिद्ध और विशाल जम्बूद्वीप में भरत क्षेत्र है। उसके अन्तर्गत मगध देश में राजगृह नाम का सुन्दर नगर है। राजगृह महाराज श्रेणिक की राजधानी थी, उनकी धर्म पत्नी का शुभ नाम चेलनी (चेलना) था। श्रेणिक महाराज अपनी प्रजा का सुखपूर्वक पालन करते थे। इसी बीच में किसी समय श्री वीर भगवान विपुलाचल के उपवन में पधारे, तब वनपाल भगवान के आगमन का समाचार महाराज से निवेदन करने के लिए फल पुष्पादि पवित्र वस्तु लेकर राजसभा में गया। उसने फल पुष्प महाराज को भेंट करके कहा- विभो! आपके उपवन को श्रीवीर भगवान ने अपने चरणकमलों से पावन किया है। ऐसे वक्त में मेरा हृदय प्रेरणाकर यह कहलाना चाहता है कि भगवान के आगमन जनित पुण्य से आप बहुत काल तक संसार सुख भोगें और दिनोंदिन राजलक्ष्मी भी आपकी अधिक-अधिक प्रणयिनी होवे।

महाराज ने जब यह सुना कि श्री वीरनाथ पधारे हैं, तब वे बहुत सन्तोषित हुये और उन्होंने शुभ समाचार लाने वाले वनपाल को बहुत से भूषण वस्त्रादि उपहार में दिए। बाद में सारे शहर में आनन्द घोषणा दिलवाकर भव्य लोगों को बुलवाया। फिर वे उनके साथ-साथ स्वयं भी पूजन सामग्री लेकर उपवन की ओर चले और दूर से ही भगवान का समवशरण देखकर हाथी पर से उतर पड़े। बीच में भगवान को विराजे हुए देखकर उन्होंने सानन्द भक्तिपूर्वक प्रदक्षिणा देकर नमस्कार किया। पश्चात् जलादि द्रव्यों से भगवान की पूजन की और उनके लिए अंजलि ललाट पर लगाई (नमस्कार किया)। इसके अनन्तर मनुष्यों की सभा में जाकर बैठ गये और वहाँ भगवान के उपदेश को श्रद्धापूर्वक सुनने लगे, जो सब जीवों के हित का एक अपूर्व साधन है, फिर सुअवसर देखकर उन्होंने भगवान से पूछा-

हे नाथ! यह जीव इस गहन संसार में किन कर्मों द्वारा निरन्तर दुःख भोगा करता है तथा ऐसे कौन से कर्म हैं जिनके द्वारा संसार के भीषण दुःखों से अपना अंचल छुड़ा लेता है। श्रेणिक महाराज के प्रश्न के उत्तर में गौतम

गणधर कहने लगे- हे राजन! संसार के दुःखों का कारण, जो तुमने पूछा सो बहुत अच्छा किया, इस विषय का विशेष स्पष्ट तो आगे कहूँगा परन्तु थोड़े से में यह समझो कि यह आत्मा इस अपार संसार में सात व्यसनों के सेवन से अधिक दुःखों का अनुभव करता है। सो इन्हीं सातों व्यसनों में से जिन लोगों ने एक-दो के सेवन से दुःख भोगे हैं, उन्हीं की कथा कहने का आरम्भ करता हूँ। श्रेणिक के कहे अनुसार श्री इन्द्रभूति गणधर भगवान ने पापों के नाश करने वाली पावन कथाओं के कहने का आरम्भ किया। इन कथाओं में यही बात बतलाई जायेगी कि किन - किन लोगों ने व्यसनों के सेवन से दुःख भोगे हैं। जुआ के खेलने से युधिष्ठिर महाराज का अपने विशाल राज्य से अधःपतन हुआ और साथ ही उन्हें अनेक प्रकार के भीषण दुःख सहने पड़े, यह बात संसार के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक प्रसिद्ध है, सो पहिले उन्हीं का उपाख्यान कहा जाता है। इसके सुनने से लोग सुमार्ग का अन्वेषण कर पाप प्रवृत्ति का सुधार करेंगे।

प्रथम द्यूतव्यसन कथा

जम्बूद्वीप- भरत क्षेत्रस्थ- कुरुजांगलदेश में हस्तिनापुर नाम का एक मनोहर नगर था। उसके राजा का नाम था "धृत"। धृत का जन्म कुरुवंश में हुआ था, ये नीतिज्ञ और बुद्धिमान थे। इनके तीन स्त्रियाँ थीं। उनके क्रम से अम्बा, अम्बालिका तथा अम्बिका नाम थे। तीनों के क्रमशः धृतराष्ट्र,पाण्डु, विदुर ये तीन पुत्र हुए। धृतराष्ट्र की स्त्री का नाम गान्धारी था और पाण्डु की दो स्त्रियाँ थीं, उनका नाम था कुन्ती तथा माद्री। इनमें धृतराष्ट्र के तो दुर्योधनादि सौ पुत्र हुए और पाण्डु की कुन्ती नाम की स्त्री के युधिष्ठर भीम तथा अर्जुन एवं माद्री के सहदेव और नकुल पुत्र हुये। कुन्ती का कन्या अवस्था में ही पाण्डु के साथ सम्बन्ध हो जाने से कर्ण पहले ही हो चुका था।

इस तरह महाराज धृत अपने पुत्र पौत्रादि सहित आनन्द भोगते हुए सुखपूर्वक अपनी प्रजा का पालन करते थे। सो उन्होंने किसी दिन शरद ऋतु में गगनमण्डल में बादल देखा। वह बहुत दूर होने से महल के ऊपरी भाग से बहुत सुन्दर दीख पड़ता था, उसकी मनोहरता पर महाराज धृत मुग्ध हो गये, सो उन्होंने उसी समय चित्रकारों को बुलाकर उनसे कहा- चित्रकारो, देखो तो यह बादल का भाग कितना सुन्दर है, तुम जल्दी से इसका चित्र खींच दो। हमारी इच्छा है कि हम अपने महलों को इसी ढंग के बनवावैं। महाराज की आज्ञानुसार चित्रकारों ने सब तरह के रंगों को जल्दी से मंगवाकर बादल का चित्र खींचना चाहा कि इतने ही में वायु चलने से बादल खण्ड - २ होकर न मालूम कहाँ देखते - देखते अन्तर्हित हो गया। तब भय से डरते-डरते बिचारे चित्रकार लोग महाराज से प्रार्थना करने लगे, महाराज! वायुवेग से बादल कहाँ चले गये, यह हम नहीं कह सकते। राजा ने बादलों की जब यह दशा देखी, तब उन्हें संसार से बहुत वैराग्य हुआ और साथ ही चिन्ता ने उनके मन में अपना अधिकार जमाया। वे विचारने लगे कि अहो! जिस प्रकार ये बादल

आँखों के देखते-देखते नष्ट हो गये, उसी तरह यह संसार भी तो क्षण भंगुर है। यह पुत्र पौत्र, स्त्री तथा बन्धुजनों का जितना समुदाय है, वह सब दुःख को देने वाला है और इसी के मोह में फँसकर यह जीव नाना प्रकार के दुःखों को भोगता है। जिन उत्तम पुरुषों ने मोह के पंजे में से अपनी आत्मा को छुड़ाकर दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण की है, वे ही इस गहन संसार से पार होकर अखण्ड शिवसुन्दरी के सुख के भोगने वाले हुए हैं। इसलिए मुझे भी यही उचित है कि पुत्र, बन्धु तथा धनादि का सम्बन्ध छोड़कर मैं अविनश्वर मोक्षमहल को देने वाली जैनेन्द्री दीक्षा स्वीकार करूँ। इसके बाद अपने विचारानुसार महाराज धृत ने बड़े पुत्र धृतराष्ट्र के लिए तो कुलपरम्परागत राज्य का भार सौंपा और पाण्डु को युवराज पद देकर विदुर के साथ-साथ मोक्ष सुख की साधन जिनदीक्षा स्वीकार की। जिनदीक्षा का लाभ कुगति में जाने वाले लोगों के लिए बहुत कठिन है। आगे धृतमुनि ने तो कितने दिनों तक कठिन से कठिन तपश्चरण कर घातिया कर्मों का नाश किया और केवलज्ञानी होकर सदा के लिए मोक्षपद प्राप्त किया और विदुर मुनिराज पृथ्वीतल में विहार करने लगे।

उधर धृतराष्ट्र, पाण्डु के साथ-साथ राज्य का पालन करते थे, प्रजा का पालन करते हुए इन दोनों का बहुत समय सुखपूर्वक बीत गया, परन्तु इन्हें कुछ परिज्ञान नहीं हुआ, एक दिन दोनों भाइयों ने एक भ्रमर को कमल के भीतर मरा हुआ देखा, सो उसके देखने मात्र से इन्हें बहुत वैराग्य हुआ। उन्होंने उसी वक्त अपने सारे राज्य के दो विभाग करके एक भाग दुर्योधनादि के लिए और एक भाग पाण्डु के युधिष्ठिर आदि पाँचों पुत्रों के लिए दे दिया और स्वयं पाण्डु के साथ-साथ जिन दीक्षा अंगीकार कर दुःसह तपश्चरण करना आरम्भ किया। उधर कौरव और पाण्डवों का परस्पर में इतना स्नेह बढ़ा और ये लोग सुख भोगने में इतने आसक्त हो गये कि काल की गति को भी नहीं जान सके। कौरवों के मामा का नाम शकुनि था, उसने राज्यविभाग की व्यवस्था देखकर विचारा कि आधा राज्य केवल पाँच पाण्डवों के लिए दिया गया है। इससे ये लोग तो बड़े ही प्रतापी मालूम होंगें, किन्तु यह ठीक नहीं

जान पड़ता है क्योंकि ये सौ हैं और राज्य उन्हीं के बराबर आधा है। इससे तो इन लोगों का वस्त्रादि प्रबन्ध भी ठीक नहीं हो सकेगा, फिर हम लोग क्या करेंगे? सच है प्रीति सब जगह धन के पीछे हुआ करती है। इस विचार से उसने और कुछ उपाय न देखकर पांडव और कौरवों के प्रेम में बाधा ड़ालना आरम्भ किया, कौरवों के कान भरे गये कि तुम्हें कुछ ख्याल भी है? कहाँ तो तुम सौ लोगों के लिए आधा राज्य और कहाँ इन पाँच पाण्डवों के लिए आधा राज्य! देखों, इस राज्य सम्पदा से ये लोग कैसे तेजस्वी दीखते हैं? इन लोगों के सामने तुम लोग तो ऐसे मालूम होते हो, जैसे मुरझाये हुए कमल की कलियाँ! ठीक तो यह है कि सब वेषों में धन का ही वेष उत्तम गिना जाता है। तुम ही यह बात सोचो कि जितना राज्य पाँच जनों को दिया गया, उतना ही सौ जनों के लिए देना उचित था क्या? इस तरह शकुनि के प्रतिदिन उत्तेजित करते रहने से कौरवों की प्रकृति में दृष्टता आ ही गई। बुद्धिमान दुर्योधन (सुयोधन) ने अपने उत्तेजित भाईयों को उस वक्त तो किसी तरह समझा बुझाकर शान्त कर दिया, पीछे कुछ समय बीत जाने पर उसने अपनी बुद्धि से कल्पना कर लाख का एक सुन्दर महल बनवाया, जिसके ऊपर नीचे जहाँ देखो वहीं लाख ही लाख लगी थी, जब महल बनकर तैयार हो गया, तब एक दिन उसने पांडवों को भोजन के लिए निमंत्रित किया, निमंत्रण के अनुसार पाण्डव अपनी माता कुन्ती को साथ लेकर आये। आते ही वे नवीन महल की अपूर्व शोभा देखकर मुग्ध हो गये, दुर्योधन ने महल के भीतर लिवा ले जाकर इन लोगों का खूब अतिथि सत्कार किया और सोने आदि का भी ठीक-ठीक प्रबन्ध करवा दिया, जिससे ये लोग रात्रि यहीं बितावें।

धीरे-धीरे सूर्यदेव भी अस्ताचल पर पहुँचे, कुछ रात्रि बीती, निद्रा का अवसर आने पर पांडवों ने वहीं शयन किया, उनकी आँख लगी ही थी कि कौरवों ने अपनी दुष्टता से महल में अग्नि लगा दी, लाख के कारण अग्नि ने भीषण भयंकरता धारण की, किवाड़ों की संधियाँ मिलने लगीं, और लाख गल-गल कर पांडवों के ऊपर गिरने लगीं और उसके गिरते ही पांडवों की

निद्रा टूटी, उन्होंने कौरवों की दुष्टता समझ ली। अब बाहर निकलने के लिए कठिनता आई, किसी को मालूम नहीं कि निकलने का रास्ता किधर है, सहदेव ज्योतिष शास्त्र का अद्वितीय विद्वान था, उससे निकलने का मार्ग पूछा गया तो उसने विचार कर उत्तर दिया कि बाहर निकलने के लिए यहाँ एक सुरंग है, उसी में से हम लोग निकल सकेंगे, यह सुनते ही भीम ने यहाँ वहाँ देखना आरम्भ किया, एक स्थान में उसे एक शिला मालूम पड़ी जिसे अपने भीमबल से उठाकर उसने सुरंग का मार्ग निष्कण्टक कर दिया, उसी रास्ते से कुन्ती को लेकर पाण्डव लोग निर्विघ्न बाहिर निकल गये।

पाण्डव लोग फँसे तो थे बड़ी भारी भीषण विपत्ति में, तो भी सौभाग्य से बाहर निकल आये । सच है दुष्टों की दुष्टता पुण्यवानों का कुछ नहीं बिगाड़ सकती, वहाँ से गुप्त रीति से निकल कर पाण्डव लोग इच्छानुसार पृथ्वी पर घूमते हुए तथा तपस्वियों के स्थानों को और नाना तरह के सुन्दर-सुन्दर वनों को देखते हुए हस्तिनापुर पहुँच गये। उधर कौरवों की निन्दा होने लगी, सब लोग उनकी दुष्टता जान गये, कौरवों को उस समय बड़ा ही लज्जित होना पड़ा, उनके मुख मलीन हो गये, ठीक कहा है जो लोग बुरे काम के करने वाले हैं उनके निर्मलता कहाँ से आवे? वे तो मलिन होते ही हैं।

पाण्डव लोग इस तरह वसुन्धरा की शोभा देखते हुए पीछे लौटे और कांकदी नगरी में आ पहुँचे, नगरी बड़ी ही सुन्दर थी। उसे कवि लोग स्वर्गपुरी बताते थे, उसके स्वामी थे द्रुपद। उनकी महारानी का नाम जयावती था और उसके गर्भ से उत्पन्न हुई राजकुमारी का नाम द्रौपदी था। द्रौपदी पृथ्वी भर में प्रसिद्ध थी, जब महाराज द्रुपद ने देखा कि पुत्री युवती हो गई है, उत्तम पुरुषों को पुत्री की बड़ी ही चिन्ता होती है। उन्होंने अपने मंत्रियों से पूछा कि "मुझे कन्या के विवाह की बड़ी ही चिन्ता है, यह युवती राजकुमारी किस उत्तम वर के लिए प्रदान की जाये? विचार कर जल्दी उत्तर दो, जिससे मेरे ऊपर से यह चिन्ता का भार उतरे।" मंत्रियों ने विचार करके महाराज को यह सलाह दी कि

"महाराज! प्रौढ़ कन्या का तो स्वयंवर ही करना सबसे उत्तम है।" मंत्रियों की सम्मति से महाराज चित्त में बहुत कुछ सुखी हुए। उन्होंने उसी समय शुभ मुहूर्त तथा शुभ योग देखकर पुत्री के स्वयंवर का समारंभ करवाया। देश-देश के राजा-महाराजाओं के लिए निमंत्रण भेजा गया दुर्योधन आदि सभी बड़े-बड़े राजा लोग आये, उस वक्त यह निश्चय किया गया कि इस राधा वेध को जो बेधेगा, वही कन्या का स्वामी हो सकेगा। उसी के गले में द्रौपदी वरमाला डालेगी।

दैवयोग से पांडव भी वहाँ आ गये, इन्हें वे लोग न जान सके, क्योंकि, ये अपने विशेष वेष को पलट कर गुप्तरीति से रहा करते थे। स्वयंवर के लिए आये तो थे बड़े-बड़े दूर देश के राजा लोग, परन्तु उनमें किसी की हिम्मत न हुई कि राधावेध को बेधें, सबके चेहरे फीके पड़ गये। इतने में अर्जुन ने उठकर कहा कि "जो मनुष्य इन राधावेध को बेधेगा उसे कन्या मिलने में कुछ सन्देह तो नहीं है? उसके कुलहीन जातिहीन होने से कोई बाधा तो नहीं आवेगी? यदि ऐसा हो तो मैं भी अपने पुरुषार्थ की परीक्षा करूँ।" सब राजाओं ने हँसकर कहा कि "तुम पार्थिव (अर्जुन) हो, जो ऐसे निर्भय होकर बोल रहे हो" अर्जुन ने कहा क्या पृथ्वी पर एक ही पार्थिव है? दूसरा नहीं है" राजा लोगों ने कहा "हाँ, पृथ्वी पर इस विषय का जानने वाला एक अर्जुन ही है उसके समान अभी तक और कोई नहीं सुना गया है।"

अर्जुन ने कहा- "अस्तु, इससे आपको क्या? मैं कोई भी क्यों न होऊँ? आपको तो काम से काम है विवाद से कुछ प्रयोजन नहीं है।" राजा लोग कहने लगे, "हमें इससे कुछ मतलब नहीं कि तुम्हारी जाति तथा कुल क्या है, तुम अपना कर्तव्य पूरा करो।" उन लोगों के कहने के अनुसार बली अर्जुन कमर बाँधकर राजा लोगों के आगे खड़ा हुआ और हाथ में धनुष लेकर बोला "आप जानते हैं यह मेरा सुन्दर धनुष है। मैं इसे आप लोगों को इस अभिप्राय से देना चाहता हूँ कि, आप लोग इसे चढ़ावें, नहीं तो पीछे आप लोग यह कहेंगे कि इसे तो हम भी चढ़ा लेते।" राजाओं ने कहा "नहीं, तुम ऐसा न समझो!

इस विषय में तुम पराक्रमी जान पड़ते हो, इसलिए इसे तुम ही चढ़ा सकोगे और साधारण लोग नहीं चढ़ा सकते।" उन लोगों के कहते ही वीर अर्जुन ने सभी के देखते-देखते धनुष को ऐसे जोर से चढ़ाया कि उसके शब्द को मेघ की गर्जन समझकर मोर शब्द करने लगे, धनुष चढ़ाकर अर्जुन ने फिर भी कहा कि "लो अब तो इस पर प्रत्यंचा भी चढ़ा दी गई आप लोग इसके द्वारा निशाना बेंधे।" सभी ने उत्तर में यही कहा कि "यह धनुष तुम्हारे ही योग्य और उत्तम है।" उनके कहते ही अर्जुन ने ऊपर को मुट्ठी और नीचे को दृष्टि करके राजा लोगों के देखते-देखते राधावेध को बेध दिया। बेध होते ही द्रौपदी सोने की झारी तथा एक सुन्दर माला लेकर आई और उसने पाँचों पाण्डवों के बीच में बैठे हुए बुद्धिमान अर्जुन के कण्ठ में माला डाल दी। इतने में वायु के अधिक वेग से माला उड़ पड़ी, माला के उड़ते ही सब लोगों में बड़ा भारी हल्ला मच गया वे कहने लगे कि "द्रौपदी अपने धर्म से भ्रष्ट है। इसने इन पाँचों को पति बनाया है", राजा लोग भी बिगड़ पड़े और कहने लगे कि हमारे बैठे हुए इसने इस भिखारी को क्यों पति बनाया? सब मिलकर युद्ध की तैयारी करने लगे। इतने में उन लोगों में से किसी ने कहा "पहले दूत भेजकर उससे कन्या लौटाने के लिए कहलवाना चाहिए और यदि वह स्वीकार न करे तो फिर युद्ध तो बना बनाया है।" विचार के अनुसार दूत भेजा गया, दूत ने जाकर अर्जुन से कहा "तुम्हें चाहिए कि राजकुमारी को राजा लोगों के लिए देकर तुम सुखपूर्वक रहो। राजकुमारी ने बड़ी भारी मूर्खता की, जो राजा लोगों को छोड़कर तुम्हें अपना स्वामी बनाया। तुम बुद्धिमान हो, हृदय में विचार कर कुमारी को राजाओं के लिए दे दो और अच्छी तरह जीवन यात्रा करो।" उत्तर में अर्जुन ने दूत से कहा "तुम जाओ और अपने स्वामी से जाकर कह दो कि सीधी तौर से तो हम राजकुमारी को नहीं देंगे, हाँ यदि कोई युद्ध भूमि में बहादुरी से ले सके, तो ले लेवे। क्या तुमने कभी किसी को अपनी बल्लभा यों ही देते हुए देखा अथवा सुना है। तुम्हारे स्वामियों में ऐसी दुर्बुद्धि क्यों उत्पन्न हुई? यदि उन्हें लेने की इच्छा है तो रण में आवें?" क्रोध में

आकर अर्जुन ने दूत को उसी वक्त निकलवा दिया, दूत ने जाकर यह सब हाल राजा लोगों को सुना दिया, सुनते ही वे बिगड़े और युद्ध के लिए तैयार हो गये।

अर्जुन ने देखा कि वीर लोग युद्ध भूमि में इकट्ठे हो रहे हैं, इससे उसे बड़ा ही क्रोध आया। वह उसी वक्त श्वशुर के साथ-साथ युद्ध के लिए निकल पड़ा, दोनों ओर के योद्धाओं की मुठभेड़ हो गई। घोर युद्ध होना आरंभ हुआ। अर्जुन ने राजा लोग भय से व्याकुल कर दिये, दुर्योधन यह देखकर कि सेना का सर्वनाश हुआ जाता है, उसी वक्त अपने गांगेय (भीष्म) आदि वीरों को साथ लेकर युद्ध भूमि में आ उपस्थित हुआ। अर्जुन ने गांगेय को देखकर विचारा कि ये तो मेरे पूज्य हैं। मेरे हाथ से इनका वध कैसे हो सकेगा? निदान उसने एक बाण पर अपना नाम लिखकर उसे भीष्म पर फैंका, जब वह भीष्म की गोद में जाकर पड़ा, तब उन्होंने उसे वांचा और वहाँ अर्जुन का आना समझ कर दुर्योधन से कहा "तुम जानते हो, ये लोग पाण्डव हैं और ठीक भी है कि पाण्डवों के बिना ऐसा पुरुषार्थ किसका हो सकता है" दुर्योधन ने पूछा- "आपने यह कैसे जाना कि ये पाण्डव हैं" तब गांगेय ने अर्जुन के नाम का बाण दिखला दिया। उसे वाँच कर बिचारे दुर्योधन की रही सही हिम्मत भी जाती रही। वह दुःख के साथ किसी तरह रथ से नीचे उतरा और माया से आँखों में आँसू लाकर तथा भेंटने के लिए हाथ पसारकर पाण्डवों के सामने गया और बहुत दुःखी होकर रोने लगा तथा गद्‌गद स्वर से बोला। "नाथ! मैं बड़ा ही अभागा हूँ। लोक निन्दा से मेरा हृदय जला जा रहा है। मैं तो निराश हो चुका था परन्तु अच्छा हुआ जो आप सब मेरे पुण्य के उदय से आ गये, न तो मैंने यह जाना था कि वह घर लाख का बना हुआ है और न मैंने उसे जलाने का उद्योग ही किया था परन्तु तो भी लोगों ने मुझे ही अपराधी ठहराया। मैं बड़ा भारी बदनाम हुआ, परन्तु यह नियम है कि जो शुद्ध चित्त के आदमी होते हैं, वे पापी कभी नहीं होते, उन्हें कलंक नहीं लगता, यही कारण है जो मेरे पुण्य से आप लोग पीछे आ मिले।" उस समय कौरव और

पाण्डव परस्त प्रेमपूर्वक मिले, सब लोगों के चित्त में बड़ा ही आनन्द हुआ। फिर शुभ मुहूर्त तथा उत्तम योग में अर्जुन का विवाह द्रौपदी के साथ हो गया। सब लोग विवाह करके अपनी-अपनी राजधानी में आ गये। कौरव और पाण्डव भी साथ-साथ अपनी राजधानी में गये। पहले की तरह वे सब प्रीतिपूर्वक रहने लगे और परस्पर एक-दूसरे का विश्वास करने लगे।

कुछ काल के अनन्तर फिर उसी शकुनि ने इन लोगों की परस्पर मैत्री को बिगाड़ना आरम्भ किया, सच है कि दुष्टों का यह स्वभाव ही होता है जो उन्हें बिना दूसरों को परस्पर लड़ाये-भिड़ाये सुख नहीं होता। आकाश में चाँदनी को देखकर कुत्ते के बिना और कौन भौंकता है? निदान शकुनि ने किसी न किसी तरह उनके स्नेह को तोड़ ही डाला। सच है, स्नेह के (तैल) के निकल जाने पर (खली) में प्रीति (संचिक्कणता) कहाँ रह सकती है अब कौरव लोग पाण्डवों के दोष ढूँढने लगे, जैसे उत्तम पुरुषों के पीछे शाकिनी लग जाती हैं।

एक दिन युधिष्ठर के मन में आया कि जुआ खेलना चाहिए। उन्हें यह विचार क्या सूझा, यों कहना चाहिए कि आज ही से इनके भाग्य का चमकता हुआ सितारा अस्त होने लगा। दुर्भाग्य ने भी उस समय युधिष्ठर को ऐसी प्रेरणा दी कि उन्हें बिना जुआ खेले एक दिन चैन नहीं पड़ती थी वे प्रतिदिन जुआ खेलते थे। एक दिन सभा में कौरव और पाण्डव बैठे थे, वहीं पर युधिष्ठिर दुर्योधन के साथ जुआ खेलने लगे। दुर्योधन का पाशा पड़ता तो बहुत उत्तम था, परन्तु भीम के हुंकार से वह उल्टा हो जाता था, उसे बड़ी ही चिन्ता हुई, वह भीम के वहाँ से चले जाने का उपाय सोचने लगा। इतने ही में दुर्बुद्धि ने उसका साथ दिया। दुर्योधन भीम से बोला "महाभाग! इस समय मुझे खूब प्यास लग रही है, उसके मिटाने का उपाय तुझे ही करना चाहिए। क्योंकि उसके लिए तू ही समर्थ है" भीम ने कहा "आप घबरायें नहीं मैं अभी कर्पूर आदि वस्तुओं से मिश्रित सुगन्धित और शीतल जल आपके लिए लाता हूँ। दुर्योधन बोला नहीं "ऐसा जल तो मुझे अच्छा ही नहीं लगता, ऐसे जल लाने

वाले तो मेरे यहाँ भी बहुत हैं।" भीम ने कहा "तो जैसा जल आप चाहते हैं, वैसा ही मैं ला सकता हूँ, आप अपने चित्त की बात बतावें।" दुर्योधन बोला- "गंगा का जो अथाह जल से भरा हुआ हृदय है, उसमें कमर तक पैठकर तुम अपनी गदा से पानी का घात करना और उससे जो पानी के कण उड़ें, मुझे उनके पीने की रुचि है।" यह सुनकर यद्यपि भीम की इच्छा नहीं थी, तो भी वह लज्जा के वश जल लेने के लिए चला गया, उसे गये हुए दो पहर हो गये। इधर दुर्योधन की बन पड़ी। उसकी जीत का पांसा पड़ने लगा, युधिष्ठिर महाराज ने पहले अपना खजाना हारा, दूसरी बार देश हारा, तीसरी बार हाथी और चौथी बार घोड़े हारे। पांचवीं बार सारे वाहन और गाय भैंस आदि हारे, अन्त में वे द्रौपदी सहित अन्तःपुर भी हार गये। इसके बाद कुछ आभूषणादि बचे थे, सो आठवीं बार वे भी सब हार गये। इतने में भीम बोला- लीजिये, मैं आपके लिए जल लाया हूँ। उसे पीकर अपनी प्यास का उपशम कीजिए । दुर्योधन ने कहा कि "अब तो मुझे प्यास नहीं है। भीम को इससे बड़ा ही आश्चर्य हुआ। परन्तु जब उसने युधिष्ठर को बिल्कुल निष्प्रतिभ देखा, कुम्हलाया हुआ पाया, तब दुर्योधन की खूब चालाकी समझ ली। जान लिया कि "इसने मुझे बड़ा भारी धोखा दिया", इसका भीम को बहुत दुख हुआ, इसी समय दुर्योधन युधिष्ठिर से बोला, "युधिष्ठिर! तुम जानते हो कि जो लोग अपना गौरव रखना चाहते हैं, जो शूरवीर होते हैं और जो बिल्कुल सत्य बोलने वाले होते हैं, उन्हें दूसरों का देश, दूसरों का घर अच्छा नहीं लगता है। वे ऐसी जगह रहने में अपनी अवहेलना समझते हैं। क्योंकि दूसरों की वसुन्धरा उनके लिए लघुता की कारण है, देखो, इसे तो जगत जानता है कि सूर्यमण्डल को प्राप्त होकर चन्द्रमा भी छोटा हो जाता है। यही हालत दूसरों के घर पर रहने वाले सभ्य तथा गुणवानों की भी होती है। इसलिए तुम्हें अपने भाईयों के सहित यहाँ मेरे देश से शीघ्र चले जाना चाहिए।" दुर्योधन के वचन युधिष्ठिर के हृदय में शूल सरीखे चुभ गये। वे उसी वक्त उठ कर जाने के लिए तैयार हो गये। उनका तेज मलीन हो गया,

उनके पीछे-पीछे द्रौपदी भी जाने के लिए तैयार हुई, यह देखकर पापी दुर्योधन बोला, "द्रौपदी! तुम्हें युधिष्ठिर हार चुके हैं, इसलिए अब तुम्हें हमारे अन्तःपुर में रहना होगा?" परन्तु उसके वचनों का कुछ भी ख्याल न कर जब द्रौपदी चलने लगी तब पापी दुर्योधन ने उसका अंचल पकड़ लिया, जब अंचल के पकड़ लेने पर भी साध्वी नहीं ठहरी, वस्त्र उसके हाथ में आ गया और द्रौपदी की ओर देखता है, तो वह वस्त्र से ढकी हुई है, तब उसने लपक कर फिर भी उसका वस्त्र पकड़कर खींचा, परन्तु इस बार भी द्रौपदी वैसी की वैसी वस्त्र से ढकी रही, इस तरह उस दुराचारी ने बेचारी सीधी-सादी द्रौपदी पर सात बार बलात्कार का हाथ चलाया, परन्तु उस सती के अप्रतिभ शील ने उसे वस्त्र हीन न होने दी। धर्मशील युधिष्ठिर महाराज यह सब पापकर्म आँखों से देखते रहे परन्तु उन्होंने अपने हृदय में विकार न होने दिया, पर जब मंत्रियों से दुर्योधन की दुष्टता न सही गई और उन्होंने उसे धिक्कार कर कहा कि "पापी! क्यों इस सती को क्रोधित करके यम के घर का अतिथि बनना चाहता है? तब कहीं उस दुष्ट ने द्रौपदी का पीछा छोड़ा। निदान वह स्वामी के पीछे हो ली। लोग यह देखकर कहने लगे कि "शील सब जगह सहायक होता है।"

भीमसेन वगैरह ने अपने बड़े भाई से कहा, "आपने दुर्योधनादि को पृथ्वी हार दी है, इसलिए अब हम युद्ध क्षेत्र को चलते हैं। अर्थात् वहाँ युद्ध करके उसको फिर छीन लेंगे।" इस पर युधिष्ठिर ने कहा, "तुम कहते हो, वह ठीक है, परन्तु बुद्धिमानों को यह उचित नहीं, उनका तो कर्तव्य है कि जो मुँह से वचन निकल जावें, उनका पालन करें। जो पृथ्वी हारकर मैंने दुर्योधन के लिए दे दी है, उसे मैं वापिस कैसे ले लूँ? क्या इससे मेरी सत्यता में लांछन न लगेगा?"

भाइयो देखो! सारे राज्य को तृण की तरह छोड़कर जब ये पाँचों भाई निकल गये, तब तुम यह बात नियम से समझो कि जुआ खेलने से जीवों को दुःख ही होता है। लोग देखते हैं और पाँचों भाई पैदल चले जा रहे हैं। उन्हें इनकी दारुण दशा पर बड़ा ही दुःख होता है। दृढ़ प्रतिज्ञ पाण्डव द्रौपदी को साथ लेकर धीरे-धीरे नगर से बाहिर निकले। तेजस्विता सब नष्ट हो गई। उस

समय लोगों के लिए यह विषय एक किम्वदन्ती सा हो गया। सब यही कहने लगे "देखो, जुआ के खेलने का फल, जो तेजस्वी लोग भी नगर से निकाले जा रहे हैं।

ये पुर से निकलकर इच्छानुसार धीरे-धीरे चलने लगे, चलते-चलते जब इनसे द्रौपदी ठहरने के लिए कहती, तब इन्हें वहीं ठहर जाना पड़ता था। बेचारी थी तो स्त्री ही न? वह चलना क्या जाने? कभी महल से नीचे भी तो उतरी नहीं थी। कहीं सुख कहीं दुःख, कहीं ग्राम कहीं वन, कहीं भोजन कहीं भीख और कहीं शय्या तो कहीं कंकरीली भूमि, इसी तरह उनके बहुत दिन बीत गये। सच है धैर्यशाली मनुष्यों के चित्त में कभी सुख-दुःख का ख्याल नहीं होता। अनेक वन, देश, पुर तथा ग्रामादि में घूमते हुए और फलादि से अपना निर्वाह करते हुए निश्चल प्रतिज्ञ शूर पाण्डव सुख-दुःखपूर्वक कई वर्षों में घूमते-घूमते विराटपुर शहर में आ निकले। वहाँ के राजा का नाम भी विराट ही था, ये लोग इस नगर में नाना प्रकार का वेष धारण कर राजा के पास गये, उनमें युधिष्ठिर महाराज भाट बने थे, भीम रसोई के रूप में थे, अर्जुन ने कंचुकी का रूप धारण किया था, सहदेव ज्योतिषी बने थे, नकुल सहीस(अश्वपाल) बना था और द्रौपदी मालिन बनी थी। राजा इनसे प्रसन्न हुआ और उसने जो जिस वेष में था, उसे उसी के अनुरूप कार्य में नियुक्त कर दिया, सब लोग राजा के सेवक बनकर रहने लगे।

विराट के एक सुन्दर स्त्री थी, वह सर्व गुणों से भूषित थी। इसका भाई अर्थात् महाराज का साला कीचक एक दिन अपनी बहिन से मिलने के लिए आया, अन्तःपुर में इसने मालिन के वेष में द्रौपदी को देखा, देखते ही कामबाण से घायल हो गया और प्रतिदिन द्रौपदी से अपनी बुरी वासना जाहिर करने लगा। सती द्रौपदी लज्जा के मारे उससे कुछ भी नहीं कहती थी, परन्तु जब देखा कि इस दुष्ट की पापवासना ऐसे नष्ट न होगी, तब उसने एक दिन भीम से उसका सब हाल सुना दिया। भीम ने द्रौपदी से कहा "तुम डरो मत, सब अच्छा होगा। देखो, नगर के बाहिर एक महादेव का मन्दिर है।

किसी तरह इसे धोखा देकर वहाँ लिवा ले जाना। इसके कर्म का फल मैं इसे वहीं भुगता दूँगा।" भीम के कहने के माफिक दूसरे दिन द्रौपदी कीचक से बोली, "जिस तरह तुम मुझे चाहते हो, उसी तरह मैं भी तुम्हें चाहती हूँ। सो आज ही तुम्हारा हमारा समागम नगर के बाहर महादेव के मन्दिर में होगा।" द्रौपदी के इस तरह इच्छा जाहिर करने पर वह बहुत सन्तुष्ट हुआ और नाना तरह की श्रृंगार सामग्री लेकर रात्रि के वक्त महोदव के मन्दिर में आ गया। वहीं भीम द्रौपदी के रूप में "गुप्त रीति से बैठा हुआ था। यह अपने हिताहित को न जानकर द्रौपदी के प्रेम से अकेला ही मन्दिर के भीतर घुस गया और काम से पीड़ित होकर बोला- प्यारी मालिन! तुम नहीं जानती कि आज तुम्हारा अहोभाग्य है, जो मेरा प्रेम तुम पर हुआ। आओ, आओ, अब देर न करो और मुझे हृदय से लगाओ, तुम जो चाहोगी, वही तुम्हें दूँगा, तुम्हें अपने अन्तःपुर की प्रधान रानी बना दूँगा। मैं तो तुम्हारे प्रेम के पीछे हूँ", इसके उत्तर में द्रौपदी ने कहा "आपका कहना वास्तव में ठीक है। मेरा अहोभाग्य, जो आप यहाँ आये, जैसा आप कहते हैं, मैं वही करूँगी। क्योंकि जैसा मुझ पर आपका प्रेम है, वैसा ही आप पर मेरा भी है।" कीचक ने कामविकार से व्याकुल होकर ज्यों ही द्रौपदी रूप भीम को अपनी भुजाओं से आलिंगन करना चाहा, त्यों ही भीम ने आलिंगन के ही छल से उसे भुजाओं के बीच में पकड़कर इतना जोर से दबाया कि उसकी चेतना तक विदा हो गई और वह मूर्च्छित हो गया, थोड़ी देर बाद जब उसे चेत हुआ, तब वह भीम को नमस्कार कर सीधा तपोवन की ओर चल दिया, उसे इस दुःख से बहुत वैराग्य हुआ, जो उसी वक्त किसी निर्जन वन में जाकर कीचक ने दोनों लोक में सुख देने वाली जिन दीक्षा ले ली। जब प्रातःकाल हुआ और कीचक के नौकरों ने उसे न देखा, तब वे चारों ओर उसकी खोज में निकले, परन्तु जब कहीं भी उसका पता न लगा, तब उन्होंने यह सब हाल महाराज विराट से जाकर कहा, उस समय राजा ने यह समझ कर कि कहीं यह अपने देश में न चला गया हो, एक मनुष्य को पता लगाने के लिए भेज दिया। उसने जाकर उसके भाईयों से पूछा-

"क्या कीचक यहाँ भी नहीं आया" यह सुनकर कीचक के भाईयों को बड़ा ही सन्देह हुआ। वे सभी सौ भाई वहाँ से कीचक की खोज में ग्राम-ग्राम देखते तथा लोगों से पूछते हुए निकल पड़े, जब विराट नगर में आये, तब उनसे किसी ने कहा- "शहर के बाहर मन्दिर में एक मालिन के साथ-साथ मैंने कीचक को घुसते देखा था, परन्तु निकलते समय अकेली मालिन दीख पड़ी थी।" यह सुनते ही इन्हें बड़ा भारी क्रोध आया। इन लोगों ने विचार किया, उस दुष्टा मालिन के पास चलना चाहिए। इसी विचार से वे लोग द्रौपदी को पकड़कर शहर के बाहर ले आये और चिता बनाकर उसमें द्रौपदी को जलाने लगे। इतने में किसी ने जाकर भीम से यह कह दिया कि "देखो, मालिन (द्रौपदी) को कीचक के भाई जला रहे हैं।" सुनते ही भीम दौड़ा और वहाँ जाकर उसने कीचक के भाइयों को देखा कि वे द्रौपदी के जलाने के लिए चिता तैयार कर रहे हैं। उसने सती द्रौपदी को तो चिता पर से उठा लिया और उन सबको उठा-उठा कर अग्नि में होम दिया। उनमें से एक को जिह्व काटकर छोड़ दिया। वह गूँगा होकर शहर में गया और विराट से कुछ संकेत करने लगा। विराट ने अपने कर्मचारियों से कहा "देखो तो, यह मूक मनुष्य क्या कहना चाहता है?

उत्तर में भीम बोला- "जो कुछ यह कहता है वह मैं आपको समझाये देता हूँ। इसका कहना है कि "महाराज, कीचक के दुःख से उसके सब भाई अग्नि में जलकर भस्म हो गये। मैंने उन्हें बहुत रोका, परन्तु उन्होंने मेरी एक न सुनी। अब मैं क्या करूँ? मेरा कहना उन लोगों ने नहीं माना, विराट ने कहा यह ठीक कहता है। निदान उस गूँगे को उसी दुःखदशा में अपने स्थान को लौट जाना पड़ा। उसकी कुछ सुनाई नहीं हुई। इस तरह पाण्डवों ने विराट नगरी में रहकर बारह वर्ष बिताये। इसके पीछे वे द्वारका गये और वहाँ जाकर वासुदेव से मिले। उनका दुःख दूर हुआ। वहाँ श्रीकृष्ण की बहिन सुभद्रा का पाणिग्रहण अर्जुन से हो गया। श्रीकृष्ण ने यह चाहा कि "कौरव और पाण्डव फिर भी किसी तरह मिल जावें" और इस आशय से उन्होंने उनका दूत तक

बनना स्वीकार कर बहुत कुछ उद्योग किया, परन्तु पाण्डव और कौरव नहीं मिल सके। कौरव और पाण्डवों की शत्रुता संसार भर में फैल गई। कुरुक्षेत्र में इन दोनों का बड़ा भारी भीषण युद्ध हुआ, उसमें कौरवों का सर्वनाथ हुआ। जयलक्ष्मी ने पाण्डवों का दासत्व स्वीकार किया। पाण्डवों की ओर श्रीकृष्ण सहायक थे। इन्होंने पाण्डवों को बड़ी भारी सहायता दी थी और पाण्डवों को प्रीतिपूर्वक हस्तिनागपुर का राज्य दिया और पाण्डव इच्छानुसार स्वतंत्रता से राज्य करने लगे।

एक दिन नारद पाण्डवों के यहाँ आये, उन्हें आते हुये देखकर पाण्डव बहुत सन्तुष्ट हुए और उन्होंने उनका अर्घ जलादि से बहुत भक्तिपूर्वक सत्कार किया। नारद ने कुछ समय तक वहीं ठहरकर कुशल समाचार पूछे, इसके बाद वहाँ से उठकर वे द्रौपद के महल की ओर गये। उस समय द्रौपदी स्नान करके निवृत्त हुई थी, सो दर्पण को आगे रखकर अपने वेष को सजा रही थी। वेष सजाने की आकुलता से द्रौपदी आये हुए नारद जी को न देख सकी। नारद जी को द्रौपदी की इस धृष्टता पर बड़ा ही क्रोध हुआ। वे उसी वक्त उसके महल से वापिस चले गये और कैलाश शैलपुर पहुँचकर विचारने लगे "देखो, इस अभिमानिनी ने अपने सौन्दर्य के घमण्ड में आकर मेरा अनादर किया अब मेरा भी कर्तव्य है कि इस पापिनी को उसका मजा चखाऊँ।" दिल में बदले का दृढ़ संकल्प कर नारद वहाँ से अमरकंका नगरी में पहुँचे। अमरकंका पद्मराज की राजधानी थी, वहाँ नारद जी ने सब लक्षणों से सुन्दर द्रौपदी का एक अत्यन्त सुन्दर चित्र खींचा और उस चित्र को जाकर- पद्मराज के सामने रखा। चित्रपट देखते ही पद्मराज का चित्त मोहित हो गया। उन्हें उस चित्र में सुन्दरी के अपूर्व लावण्य से बड़ा ही आश्चर्य हुआ, इसलिए नारद से पूछा- "महाराज! कहिये तो यह सुन्दरता किसकी है?" नारद ने उत्तर दिया "राजन! यह सुन्दर चित्र अर्जुन की प्रेयसी द्रौपदी का है, जो साधारण पुरुषों के लिए बड़ी ही दुर्लभ है। यह हस्तिनापुर में रहती है। इसे पुण्यवान् पुरुष ही पा सकते हैं।" इतना कहकर नारद वहाँ से चल दिये। इनके जाते ही पद्मराज को द्रौपदी की प्राप्ति

की चिन्ता ने धर दबाया। जब इसे द्रौपदी के लाने का और कोई उपाय न सूझा, तब वह विद्या साधकर उसके द्वारा रात्रि के समय शयनागार में सोती हुई द्रौपदी को उठा लाया और अपने महल में रखकर अपने मनोरथ को सफल समझने लगा। पीछे उस पर अतिशय आसक्त होकर जब बलात्कार करने लगा, तब द्रौपदी ने बहुत दुःखी होकर प्रार्थना की कि "तुम एक महीने तक और ठहर जाओ, मैं तब तक अपने पति की प्रतीक्षा करूँगी। यदि इस अवधि के भीतर कोई नहीं आवे, तो फिर जैसा तुम्हें रुचे वैसा करना।" द्रौपदी के इस प्रकार कहने पर पद्मराज ने अपना आग्रह एक महीने के लिए छोड़ दिया। उधर जब अर्जुन जागे और शय्या द्रौपदी से शून्य देखी तब उन्हें बहुत दुःख हुआ। इतने में भीमसेनादि भी जाग उठे। यह आकस्मिक घटना देखकर उन्हें भी बहुत दुःख हुआ। सभी ने द्वारका में जाकर यह हाल श्रीकृष्ण से कह सुनाया। श्रीकृष्ण भी इस घटना के सुनने से बहुत दुःखित हुये। इतने ही में वहीं पर नारद महाराज की सवारी आ पहुँची, उन्होंने सबको सचिन्त देखकर, खेदित होने का कारण पूछा। सभी ने नारद से कहा- "महाराज! द्रौपदी को कोई हरण कर ले गया है, उसका पता अभी तक नहीं चला।" यह सुनकर नारद कहने लगे, "मैंने तो द्रौपदी को धातकी द्वीप के अन्तर्गत अमरकंका नगरी में देखा था। जाना जाता है, उसे वहाँ का राजा पद्मराज ले गया है। क्यों कि द्रौपदी उसी के महल में है। यह तुम्हें मालूम ही होगा कि धातकी द्वीप को जाने के मार्ग में समुद्र पड़ता है।" इतना कहकर नारद वहाँ से भी रवाना हो गये, द्रौपदी की चिन्ता से चिन्तित श्रीकृष्ण उसी समय सब सेना लेकर समुद्र के किनारे पर जा पहुँचे। उन्होंने सेना तो वहीं छोड़ी और आप पाण्डवों को लेकर रथ के द्वारा समुद्र पार होकर थोड़े ही समय में अमरकंका जा पहुँचे। जाकर किसी के द्वारा पद्मराज को सूचना भेज दी, जिसको पाते ही पद्यराज सेना लेकर अपनी पुरी के बाहिर आया। पाण्डवों के साथ इसकी मुठभेड़ हुई, भीषण युद्ध हुआ। पाण्डवों के पराक्रम को देखकर पद्मराज की सेना भाग गई। उसी समय श्रीकृष्ण ने भी अपने बली होने का परिचय देने के लिए पृथ्वी पर ताकत के साथ पैर की एक

ठोकर मारी, जिससे पृथ्वी कांपने लगी। लोग भय से व्याकुल हो गये, पद्मराज बहुत डरा, सो उसी वक्त द्रौपदी के पास जाकर उसके पांव पड़े और दीनता के साथ प्रार्थना करने लगा कि- "माता! मेरी रक्षा करो, तुम वास्तव में मेरी माता हो।" उसके दीनता के वचन सुनकर द्रौपदी बोली- "तुम बच तो सकोगे, परन्तु इसके लिए तुम्हें एक उपाय करना होगा। वह यह कि तुम स्त्री का वेश लेकर मेरे साथ चलो", पद्मराज ने यह बात स्वीकार की, सो द्रौपदी और बहुत सी स्त्रियों के साथ उसे भी लेकर अपने स्वामी से मिलने गई। द्रौपदी को आती देखकर कृष्ण आदि को सन्तोष हुआ। द्रौपदी ने पांव पड़कर श्रीकृष्ण आदि का सत्कार किया और पद्मराज को श्रीकृष्ण के चरणों में गिराया। श्रीकृष्ण को उसके इस दीन स्त्री वेष पर बड़ी दया आई, इसलिए उन्होंने उसे क्षमा कर दिया।

इसके बाद पद्मराज ने इन सबको अपने नगर में ले जाकर खूब आदर सत्कार किया और कहा नाथ! आज मेरा बड़ा भारी सौभाग्य है, जो आप सरीखे महात्माओं के दर्शन से मेरी जीवनलीला सफल हुई, पद्मराज ने उस दिन आनन्दित होकर सारे शहर में उत्सव करवाया। द्रौपदी ने इतने दिन तक भोजन नहीं किया था, सो आज उसका भी सुखपूर्वक पारणा हुआ। उसकी प्रतिज्ञा पूर्ण हुई। श्रीकृष्ण वहाँ सात दिन तक ठहरे, बाद में सब अपने-अपने स्थानों की ओर जाने के लिए रवाना हुए। मार्ग में समुद्र के तीर भूमि में आकर ठहरे, वहीं पर श्रीकृष्ण ने अपना पांचजन्य (शंख) बजाया। उसके शब्द से लोगों में बड़ा भारी कोलाहल मच गया कि "यह किसका शब्द है?" वहाँ पर जिन भगवान की सभा में धातकी द्वीप के नारायण बैठे हुये थे। उन्हें भी शंख ध्वनि के सुनने से बड़ा भारी आश्चर्य हुआ। जिन भगवान से उन्होंने पूछा "नाथ! यह शंख का शब्द किसका हुआ है?" भगवान बोले- "जम्बूद्वीप के भारत वर्ष के अर्न्तगत द्वारका नामक सुन्दर नगरी है। वहाँ श्रीकृष्ण नारायण राज्य करते हैं, उन्हीं के शंख की यह ध्वनि है। "नारायण श्रीकृष्ण यहाँ किस लिए आये हैं और किस लिए उन्होंने यह शंख का शब्द

किया है?" भगवान बोले "तुम्हारे राजा पद्मराज ने अर्जुन की स्त्री का हरण किया था, इसलिए उसको लेने के लिए वे वहाँ आये हैं।" यह सुनकर नारायण राजा पद्मराज से बहुत असन्तुष्ट हुए, उन्होंने उसे राज्य से निकाल दिया और जिन भगवान से प्रार्थना की कि "नाथ! मेरी बहुत इच्छा है कि मैं श्रीकृष्ण से जाकर मिलूँ।" भगवान ने उन्हें रोका और कहा "तुम्हें मिलना उचित नहीं है। कारण जिनेन्द्र, चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण और प्रतिनारायण इन लोगों का परस्पर में सम्मिलन नहीं होता है। इनके मिलने पर भी कुछ विशेषता तो होती नहीं, फिर बिना हेतु लाभ क्या होगा? इसलिए हे राजन! तुम्हें केवल उनकी परोक्ष भेंट करके ही सन्तोष कर लेना चाहिए। तुम्हें या तो उनकी ध्वजा के दर्शन हो सकते हैं या शंख का शब्द सुनाई पड़ सकता है, इसी को तुम्हें उनकी परोक्ष भेंट समझना चाहिये। जैसा भगवान ने कहा, उसी तरह नारायण ने किया। उधर श्रीकृष्ण ने भी जिन भगवान के वचनों का पालन किया। फिर कुछ देर वहाँ और ठहरकर वे समुद्र पार होने की तैयारी करने लगे और बाणासुर का स्मरण करके उसकी सहायता से शीघ्र ही पार होकर अपने द्वीप में आ पहुँचे। रथ से नीचे उतरकर पाँचों पाण्डव चलने लगे। पीछे से द्रौपदी को लेकर श्रीकृष्ण रथ पर बैठे हुए जब तक आये, तब तक पाण्डव आगे निकल गये, आगे चलकर पाण्डवों को गंगा मिली, सो उन लोगों ने नाव के द्वारा उससे पार होकर श्रीकृष्ण के साथ हँसी करने के लिए और उनके बल की परीक्षा करने के लिए नाव को जल में डुबो दी। श्रीकृष्ण भी पीछे-पीछे आये और जब पाण्डवों को वहाँ न देखा, तब वे रथ से उतर पड़े और उसे द्रौपदी सहित बायें हाथ से थामकर दाहिने हाथ से नदी में तैरने लगे, सो थोड़ी ही देर में पार हो गये। जब श्रीकृष्ण पार हो गये, तब पाण्डवों ने अपनी डूबी हुई नाव निकाल कर दिखला दी और श्रीकृष्ण चन्द्र की मुक्तकण्ठ से स्तुति करके कहा- "आपकी भी आलौकिक शक्ति है, नहीं तो इतनी बड़ी विशाल गंगा को कैसे पार कर सकते थे?" जब पाण्डव बार-बार प्रशंसा करने लगे, तब श्रीकृष्ण कुछ उद्वेग में आकर कहने लगे, "तुम्हें मेरे साथ हँसी करते शर्म

भी नहीं आती! क्या तुमने मेरे बल को अभी ही देखा है? सुनो, मैंने पहले कंस को यमलोक पहुँचाया और उसी तरह शिशुपाल को भी और जरासंध आदि कितने शूरवीर राजा थे, उन्हें भी मैंने ही मारा है। क्या तुम ये बातें नहीं जाते हो, जो मेरे साथ हँसी करते हो? मैंने और भी कितने काम आश्चर्यजनक किये हैं, गायों की रक्षा के लिए गोवर्द्धन शैल उठाया, यमुना के भीतर घुसकर नागराज को वश में किया, हाथों से कोटिशाला उठाई, विशाल समुद्र को पार किया और अपने प्रताप से पद्मराज को वश में करके उससे द्रौपदी को छुटकारा करवाया। इस छोटी सी नदी मात्र के तिरने से मेरी शक्ति क्या जानी जा सकती है? जो तुमने मेरे साथ छल किया और हँसी की, क्या तुम नहीं जानते कि कहीं बेचारे निर्मल मृग के मारने से केसरी के प्रबल प्रताप का अनुमान हो सकता है?" कृष्ण को पाण्डवों की हँसी बड़ी बुरी लगी, जो हँसी आनन्द के लिए की गयी थी वह रंज की कारण हो गई। बुद्धिमानों को चाहिए कि ऐसी हँसी कभी न करें। इस हँसी से बहुत दिनों का गाढ़ प्रेम भी क्षणमात्र में नामशेष हो जाता है तथा बड़े-बड़े लोगों को भी नीचा देखना पड़ता है। "बस अब तुम्हें जहाँ मेरी पृथ्वी है तथा राज्य हैं वहाँ नहीं ठहरना चाहिए, यह मेरी आज्ञा है इसे तुम्हें पालन करना चाहिए।" श्रीकृष्ण के वचन सुनते ही मानी पाण्डव उन्हें नमस्कार कर दक्षिण दिशा की ओर चल दिये। उधर जाकर इन लोगों ने दक्षिण मथुरा बसाई । सच है पुण्य के माहात्म्य से लोगों को सभी जगह सुख होता है।

देखो, पाण्डवों ने जूआ के खेलने से कैसे-कैसे दारूण दुःख भोगे और उन्हें नानादेशों में दुख भोगते हुए फिरना पड़ा, इससे तो यही कहना पड़ेगा कि जुआ खेलने के समान संसार में कोई पाप नहीं तथा कोई प्रचण्ड शत्रु नहीं। पाण्डवों के दुःख का कारण यही हुआ न? नहीं तो पाण्डव कितने पुण्यशाली थे।

श्रेणिक देखो! पाण्डव सरीखे प्रबल प्रतापी लोगों ने भी जुआ के खेलने से कैसी-कैसी भयंकर आपदायें सहीं? और भी नरप्रभृति कितने ही

राजाओं को इस जुआ के खेलने से जो दुःख उठाने पड़े हैं, उन्हें कौन कह सकता है? इसी से लोग हिंसा करने लग जाते हैं, झूठ बोलने लगते हैं और चोरी करने लगते हैं मनुष्यों के लिए जुआ एक बड़ा भारी दुःख ही है। बुद्धिमानों को इस पाप व्यसन का परित्याग करना चाहिए। क्योंकि इसी से नरकवास भोगना पड़ता है और इसी से तिर्यंच गति में भी अनेक भीषण दुःख देखने पड़ते हैं। दुःख तो बहुत हैं और हमारी जिह्व एक ही है, फिर उसके द्वारा जुआ के सब दुःखों का वर्णन कैसे हो सकता है? सार यही है कि यह संसार के बढ़ाने का प्रधान हेतु है। इसलिए सुखी होने की इच्छा रखने वालों को चाहिये कि इस बुरे व्यसन से अपना पिण्ड छुड़ावें।

देखो पाण्डव लोग कितने पुण्यशाली और नीतिशास्त्र के अनुभवी थे, परन्तु उन्हें जो जुआ के खेलने की आदत पड़ गई उसके द्वारा उन लोगों ने कैसी-कैसी कठिन आपदायें भोगीं और देश का सर्वनाथ किया, इसलिए हमारा यही उपदेश है कि इसे नरक निवास का कारण समझ कर नियम से छोड़ो यदि वास्तविक सुख चाहते हो तो, साथ ही जैन धर्म को स्वीकार करो, यह तुम्हारे सुख समुद्र बढ़ाने के लिए चन्द्रमा होगा।

छप्पय

सकलपापसंकेत, आपदाहेत कुलच्छन।
लतखेत दारिद्र देत, दीसत निज अच्छन।।
गुनसमेत जस सेत, केत रवि रोकत जैसे।
औगुन-निकर-निकेत, लेत लखि बुधजन ऐसें।।
जूआ समान इहलोक में, आन अनीति न पेखिये।
इस विसनराय के खेल को, कौतुक हू नहिं देखिये।।

(भूधरशतक)

।।इति प्रथमः परिच्छेदः।।

दूसरी मांसव्यसन कथा

श्रेणिक महाराज ने गौतम गणधर से पूछा- नाथ! माँस के खाने से किसने कैसे-कैसे दुःख भोगे हैं, सो भी कहिये। तब गणधर भगवान बोले- श्रेणिक! सुनो जिसने माँस के खाने से दुःख भोगे हैं उसी का उपाख्यान कहा जाता है। माँस के खाने वालों में एक बक नाम का राजकुमार अधिक प्रसिद्ध है। उसने संसार के बढ़ाने वाले बहुत दुःख देखे हैं। श्रेणिक ने कहा- महाराज! यह बक कौन था? किसका पुत्र था? इसे माँस खाने की रुचि कैसे हुई और इसने कौन-कौन से दुःख भोगे? गणधर भगवान बोले- तुम्हारा पूछना बहुत ठीक है। उसके उपाख्यान से लोगों को बहुत कुछ शिक्षा मिलेगी, इसलिए मैं उसे संक्षेप में कहता हूँ।

इस भारत वर्ष में मनोहर नामक देश के अर्न्तगत एक कुशाग्र नाम का सुन्दर शहर था। उसमें भूपाल नाम का राजा अपनी विदुषी महारानी लक्ष्मीमती सहित राज्य करता था। लक्ष्मीमती सब गुणों से विभूषित थी, राजा तो जिनधर्म का परम भक्त था, परन्तु इसका पुत्र बक माँस खाने में बड़ा ही लोलुपी था। जब प्रतिवर्ष अष्टाह्निका पर्व आता था, तब महाराज अपने सारे शहर में बड़ा ही महोत्सव करवाते थे और यह घोषणा फिरवा देते थे कि "मेरे शहर में कोई भी पुरुष जीवहिंसा न करने पावे। यदि कोई करेगा, तो वह राजद्रोही समझा जावेगा।" उस वक्त बक ने पिता से प्रार्थना की "कि पिताजी मुझे माँस की आदत पड़ गई है, मैं बिना माँस के कैसे रह सकूँगा?" जब उन्होंने पुत्र का अधिक आग्रह देखा, तब वे बोले "यह काम सर्वथा बुरा है, परन्तु तुम यदि नहीं रह सकते तो देखो, एक जीव के सिवाय अधिक की हिंसा मत करना," पुत्र अपने पिताजी के वचनों को स्वीकार कर अपने

नियमानुसार रहने लगा। अर्थात् प्रतिदिन एक जीव के घात से अपनी जीभ को शान्त करने लगा और बाकी के सब लोगों ने राजाज्ञा के अनुसार सर्वथा हिंसा करना छोड़ दिया।

अष्टाह्निका पर्व में एक दिन रसोइये ने बक के लिए जो भोजन बनाया था, उसमें माँस भी पकाया था, रसोइया भोजन को वहीं पर रखकर कुछ काम के लिए बाहर चला गया। इतने में किसी बिल्ली ने आकर माँस खा लिया, जब रसोइया आया और देखा कि बिल्ली माँस खा गई है तब उसे बड़ी चिन्ता हुई। अब क्या करूँ? किधर जाऊँ? माँस के बदले में उसे और क्या उत्तम वस्तु खिलाऊँगा? राजपुत्र माँस का बड़ा ही प्रेमी है, वह यह हाल देखकर नियम से मुझे दण्ड देगा, ऐसा विचार कर रसोइया शहर के बाहिर गया और वहाँ किसी मरे हुए बच्चे को पृथ्वी में गढ़ा हुआ देख उखाड़ लाया और माँस लोलुपी राजकुमार के लिए उसने उसे ही पकाकर रख दिया, राजकुमार जब भोजन के लिए आया तब रसोइये ने उसकी बहुत भक्ति की। जब राजपुत्र भोजन के लिए बैठ गया, तब रसोइये ने पहिले तो नाना प्रकार के व्यंजन परोसे और पीछे वह माँस भी परोस दिया, आज के माँस का स्वाद उसे बहुत अच्छा लगा, इसलिए उसने रसोइये से पूछा "ठीक-ठीक बता कि यह माँस किसका है? मैंने तो आज तक कभी ऐसा माँस नहीं खाया था।" रसोइये ने कहा "कुमार! यह माँस मयूर का है।" राजपुत्र ने फिर कहा "क्या मैंने कभी मयूर का माँस नहीं खाया जो तू ऐसा कहता है? मयूर के माँस में इस माँस में तो बहुत फर्क है। मैंने तो आज तक कभी ऐसा स्वादिष्ट न तो देखा था और न कभी सुना था। मैं तुझे क्षमा करता हूँ। ठीक-ठीक कह दे कि यह माँस किसका है?" रसोइया बोला कुमार! मैंने ठीक हाल भय से नहीं कहा था किन्तु जब तुम क्षमा कर चुके हो तो लो मैं कहता हूँ कि यह माँस मनुष्य का है।" सुनकर कुमार बोला "देख, आज से मेरे सन्तोषार्थ जैसे हो सके, वैसे मनुष्य का ही माँस लाकर बनाया कर। इसके लिए जितना द्रव्य चाहिए उतना मैं दिया करूँगा।" रसोइये ने सुनकर विचारा कि "मैं रोज-रोज मुनष्य माँस कैसे ला सकूँगा?" उसने

और कोई उपाय न देखकर बहुत से चने, सिंघाड़े, छुहारे तथा नारियल खरीदे और उन्हें लेकर वह सांयकाल के समय कुछ अन्धेरा हो जाने पर जहाँ छोटे-छोटे बच्चे खेला करते थे, वहाँ जाने लगा और उक्त चीजें बालकों को देने लगा, बेचारे बच्चे लोभ के मारे उसके पास आने लगे। सच है, सब मोहों में स्वाद का मोह बड़ा ही जबर्दस्त है। इस तरह जब बालक रसोइये से हिल-मिल गये, तब वह उनमें से किसी एक को अवसर पाकर पकड़ लेता और गला दबाकर तथा वस्त्र में छुपाकर घर ले आता और राजकुमार को उसके माँस से प्रसन्न करता। ऐसा करते-करते बहुत काल बीत गया, इतने ही में भूपाल जिनदीक्षा से दीक्षित होकर तपोवन चले गये और राज्याधिकार बक को मिल गया। वह स्वच्छन्द होकर राज्य करने लगा।

इसी तरह समय बहुत बीत गया, बालक दिनोंदिन घटने लगे, लोगों को बड़ा ही भय हुआ, सबने मिलकर विचारा कि "यह बात क्या है? इस विषय का पता लगाने के लिए कि बच्चे कहाँ जाते हैं," बहुत से लोग गुप्तरीति से शोध लगाने लगे। एक दिन दुष्ट रसोइया बालकों को कुछ खाने को देकर ज्यों ही उनमें से एक को पकड़ कर ले जाने लगा त्यों ही लोगों ने दौड़कर उसका गला पकड़ लिया, पकड़ते ही रसोइये ने बच्चे को नीचे डाल दिया, बालक को देखते ही लोगों का क्रोध उमड़ आया। उन्होंने उस वक्त उसकी बुरी तरह पत्थर और घूँसों से खबर ली। जब उस पर अच्छी मार पड़ी और पूछा गया तब उसने ठीक-ठीक जो बात थी, वह कह दी, लोगों को राजा की अनीति देखकर बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने विचार किया कि "अब हमारा क्या कर्तव्य है? यह पापी राजा तो प्रतिदिन हमारे बाल-बच्चों को खाता है और जब इसको लत पड़ गई है, तब यह बच्चों के माँस को छोड़ेगा भी नहीं। इससे तो यही उचित है कि हम लोगों को अब एक दिन भी यहाँ नहीं रहना चाहिए। अरे! वह राजा भला ही क्या कर सकेगा, जो हमारी ही सन्तानों को खानेवाला है? और जब बालबच्चे ही न रहेंगे, तब हमारा जीवन ही किस काम का है? देखो, लोग केवल बालकों के लिए तो देश-विदेश तक जाने में आगा पीछा नहीं

करते हैं? बालक ही तो घर के भूषण कहे जाते हैं। फिर जहाँ बालकों का ही नाश होता है, वहाँ हम रहकर क्या करेंगे? धन, धान्य आदि जितनी वस्तुऐं संग्रहीत की जाती हैं, वे सब बच्चों के लिये ही की जाती हैं। ऐसी अवस्था में भी हम लोग यहीं रहेंगे तो नियम से हमारा सर्वनाश होगा। वह राजा ही किस काम का है, जो बच्चों के साथ इस तरह निर्दय व्यवहार करता है", अन्त में सब लोगों ने विचारकर यह निश्चय किया कि "यह राजा बड़ा ही दुष्ट और पापी है, सो इसे ही देश से निकलवा देना चाहिए, हम लोग ऐसे नृशंस राजा को कैसे रख सकते हैं? विचार करते-करते प्रातःकाल हो आया, उजाला होते ही सब महान लोग मिलकर राजदरबार में गये। राजा राज्यसिहांसन पर बैठा हुआ था। उसे सब लोगों ने मिलकर सिहांसन से उतार दिया और उसके किसी गोत्रीय पुरुष को राज्य सिहांसन पर बिठा दिया । सच है बहुतों की सम्पति सभी को स्वीकार करनी पड़ती है। वही राजा है और वही देव है जिसे बड़े लोग मानते हैं और जब बड़े लोग ही रुष्ट हो जाते हैं, तो समझो कि उसका देव भी उससे परामुंख है। जो नीतिपूर्वक चलने वाले हैं उनके लिए सब ही सज्जन हैं और जो अनीति करते हैं उनके लिए भला भी बुरा हो जाता है। इसलिए बुद्धिमानों को कभी अच्छे मार्ग का उल्लंघन नहीं करना चाहिए, क्योंकि खोटे रास्ते से चलने वालों को स्वप्न में भी सुख नहीं मिल सकता है।

बक राज्य भ्रष्ट होकर दुःख से दिन बिताने लगा, तो भी उसकी पापवासना न बुझी, देखो, जो पाप के उदय से पहले से ही मनुष्य माँस खाने वाला है, वह अब ऐसे कठिन व्यवसन से अपना पीछा कैसे छुड़ा सकेगा? ठीक यही हालत बक की हुई, वह शहर के बाहर वन में रहकर श्मशान भूमि में घूमने लगा और मुर्दों का माँस खा-खा कर दिन बिताने लगा। लोगों ने इसका शहर में आना बंद कर दिया और इसी के भय से लोगों ने शहर के बाहर निकलना तक छोड़ दिया। लोग इसे राक्षस, दैत्य और पिशाच समझने लगे। कुछ दिनों बाद यह नंगा होकर वन में रहने लगा और मनुष्यों के माँस से उदरपूर्ति करने लगा, सच है- जो लोग पाप में रक्तचित्त होते हैं, उन्हें दया

तथा ग्लानि कहाँ? बक लोगों से घृणा किया हुआ पृथ्वी में इच्छानुसार घूमने लगा, इसी तरह इसे ग्रामों में घूमते-घूमते बहुत दिन बीत गये वह यहाँ तक क्रूर हो गया कि जो जीव इसके सामने आ जाता यह उसे ज़ीता न छोड़ता था ठीक तो है, खोटे मार्ग में जाने वालों के शंका तथा विचार कहाँ रहता है?

एक दिन वन में घूमते हुए इसे वसुदेव ने देखा, यद्यपि वसुदेव थे अकेले, तो भी वे निर्भय होकर इससे लड़े और उन्होंने इसे जल्दी से मार गिराया। बक मरकर सातवें नरक गया, जहाँ अत्यन्त दारुण दुःख सहने पड़ते हैं। वहाँ इसने पाप के फल से बड़े-बड़े भीषण दुःख भोगे। यद्यपि दुःख नरकमात्र में भोगने पड़ते हैं, परन्तु सातवें नरक में जैसे दुःख भोगने पड़ते हैं, वैसे कहीं नहीं हैं। वास्तव में यह पाप का फल है, जो वहाँ कभी सुख का लेश नहीं मिलता। नारकी जब यह कहता है कि मैं प्यास की पीड़ा से मरा जाता हूँ, तब असुर लोग उसी के शरीर से खून निकाल-निकाल कर पिलाने लगते हैं फिर वह कहता है, नहीं नहीं मुझे प्यास नहीं है तो भी वे लोग इसका पीछा नहीं छोड़ते हैं और कहते हैं अरे पापी! दुराचारी! तू ने तो दूसरों का माँस बहुत खाया है, अब अपने ही शरीर का माँस को क्यों नहीं खाता? नरक में जीव की बड़ी ही दुर्दशा की जाती है वह अग्नि में पकाया जाता है, घानी में तिल की तरह पेल दिया जाता है, आग में जला दिया जाता है, जब तक उसकी आयु पूरी नहीं होती, तब तक ऐसी ही अगणित दारुण यातनायें भोगनी पड़ती हैं।

बुद्धिमानों! देखा न? माँस के खाने का फल, जिसे बक राजपुत्र ने भोगा है, अब तो तुम्हें उचित है कि तुम अभी ही माँस का खाना छोड़ दो, आप जानते हैं, माँस न तो वृक्षों से पैदा होता है, न पृथ्वी में उगता है और न पर्वतमालाओं से उत्पन्न होता है। किन्तु नियम से निरपराध जीवों के मारने से इसकी पैदाइश है। इसलिए उच्छिष्ट तथा विष्टा आदि से मिले हुए माँस से चित्त को हटाना चाहिए। देखो! माँस बकरे, शूकर, हिरण, मच्छी आदि के शरीर के घात होने से पैदा होता है, इसकी दुर्गन्धि मात्र से जब उल्टी हो

जाती है तब उत्तम लोग उसे कैसे ग्रहण करेंगे? इसका तो स्पर्श तक भी महाबुरा है । इसलिए बुद्धिमानों! माँस के त्याग का नियम करो, माँस का खाना यहाँ भी घृणा पैदा करता है और परलोक में भी नरक में ले जाने का कारण है।

देखो! कहाँ तो बक का उत्तम राज्य कुल और कहाँ मनुष्यों के माँस का खाना? इसी से उसे राज्य से पतित होना पड़ा और अन्त में नरक निवास करना पड़ा, इसी तरह और भी जो कोई माँस का भक्षण करेगा, उसके लिए बक का चरित्र एक अच्छा उदाहरण है। माँस के दोषों को कोई कहाँ तक गिना सकता है, जिसका नाम मात्र लेने से उत्तम पुरुष भोजन तक छोड़ देते हैं।

सारांश यह है कि माँस निंद्य है, पाप का कारण है, पवित्रता का सर्वनाश करने वाला है, दुःख का मूल है और दोनों लोक में बुराई का हेतु है इसलिए इसके परिहारपूर्वक बुद्धिमानों को अहिंसा धर्म का अपूर्व प्रतिपादन करने वाला जिनधर्म स्वीकार करना श्रेय है। यही संसार दुःख से दुःखित जीवों के लिए सुख का कारण है।

छप्पय

जंगम जीको नाश होय, तब माँस कहावै।
सपरस आकृति नाम, गन्ध उर घिन उपजावै।।
नरक जोग निरदई, खाहिं नर नीच अधरमी।
नाम लेत तज देत, अशन उत्तम कुल करमी।।
यह अशुचि मूल सबतैं बुरो, कृमिकुल रास निवास नित।
आमिष अभक्ष याको सदा, बरजौ दोष दयाल चित।।

(भूधरशतक)

।।इति द्वितीयः परिच्छेदः।।

तीसरी मदिरा व्यसन कथा

भगवान गणधर बोले- श्रेणिक! अब तुम्हें मदिरा पीने वालों का उपाख्यान सुनाया जाता है यह भी लोगों के लिए सुख का हेतु है। मदिरा पीने से यादवों ने अतिशय दुःख भोगे हैं। तुम्हें उनका चरित्र ध्यानपूर्वक सुनना चाहिए, श्रेणिक ने कहा- नाथ! आप कहें, मैं सुनने को तैयार हूँ।

गौतम भगवान यों कहने लगे- जम्बूदीप में भरत क्षेत्रस्थ-कौशल देश के अन्तर्गत सौरपुर नामक सुन्दर नगर था। वहाँ महाराजा समुद्रविजय राज्य करते थे। समुद्रविजय यादवों में प्रधान गिने जाते थे। इनके छोटे भाई का नाम था वसुदेव जो पृथ्वी में प्रसिद्ध थे।

जिस समय मथुरा का राजा कंस वसुदेव के साथ अपनी बहिन देवकी का ब्याह करके उन्हें अपनी राजधानी में लिवा ले गया था और सुखपूर्वक राज्य करता था, उस समय एक दिन अतिमुक्तक नाम के मुनि जो कि कंस के छोटे भाई थे, आहार के लिए आये, उन्हें आते हुए देखकर कंस की जीवंद्यशा नामक प्रधान रानी उनकी हँसी करने लगी और देवकी का मलिन वस्त्र दिखाकर बोली- जिसे तुमने बालावस्था से ही छोड़ रक्खी है उसी का यह वस्त्र है। वस्त्र देखकर मुनि क्रोधित होकर कहने लगे "मूर्खे! तू हँसती क्यों है? तुझे तो रोना चाहिए। देख! इसी के गर्भ से जो बालक पैदा होगा, उसके द्वारा तेरे पिता और स्वामी की मृत्यु होगी," इतना कहकर मुनि अन्तराय हो जाने के कारण वापिस लौट गये, इधर मुनि के कहने से जीवंद्यशा को बहुत दुःख हुआ, इतने में कंस भोजन के लिए आया और प्राणप्यारी को रोती हुई देखकर बोला "सुन्दरी! आज किस लिए रो रही हो? कहो तो क्या किसी ने तुम्हें कुछ दुःख पहुँचाया है? जीवंद्यशा बोली "नाथ! और तो कुछ नहीं किन्तु यही एक प्रबल दुःख का कारण है कि आज आहार के लिए अतिमुक्तक मुनि आये थे, सो

मैंने उन्हें देवकी का वस्त्र दिखला दिया उसे देखकर मुनि ने क्रोध में आकर मुझसे कहा कि "मूर्खे! तुझे तो शोक करना चाहिये हँसती क्यों है? क्योंकि इसी के गर्भ से पैदा होने वाले के द्वारा तेरे पति और पिता की मृत्यु होगी।" बस यही मेरे दुःखी होने का कारण है" कान्ता की दुःख भरी कहानी सुनकर कंस भी चिन्ता से व्याकुल हुआ, सच है सब भयों से मृत्यु का भय बड़ा होता है। कुछ विचार कर कंस वसुदेव के घर पर गया, वसुदेव ने उसका सत्कार किया, कंस पहिले तो कपट भाव से इधर-उधर की बातें करने लगा, पीछे अवसर पाकर वसुदेव से बोला "आप सब विद्याओं में मेरे गुरु हैं, इसमें किसी तरह का सन्देह नहीं, किन्तु मुझे आप से कुछ माँगना है। यदि आप कृपा करें तो बहुत अच्छा हो," वसुदेव बोले- "ऐसा तुम क्यों कहते हो? क्या कभी मैंने तुम्हारे कहने का निरादर किया है? मैंने आज तक कभी तुम्हारा कहना नहीं फेरा, फिर किसलिये इतना आग्रह करते हो?" कंस बोला यदि ऐसा है तो मुझे वचन दे दीजिए तो मैं प्रार्थना करूँ ।" जब वसुदेव वचन दे चुके, तब कंस बोला आगे मेरी बहिन की प्रसूति मेरे घर पर ही हुआ करे, यह आज्ञा दीजिए ।" उत्तर में वुसदेव ने कहा-"अस्तु! यह तुम्हारी बहिन है, इसकी प्रसूति तुम्हारे घर पर होने में कोई हर्ज नहीं" कंस भी ये कहकर कि अच्छी बात है," घर चला गया और अपने जीवन को कृतार्थ मानने लगा। उस वक्त वसुदेव के किसी हितेषी ने कंस के इतने आग्रह का कारण उन्हें बता दिया, सुनकर वसुदेव और देवकी बहुत दुःखी हुये । वसुदेव उसी वक्त रथ में बैठकर देवकी के साथ वन में गये और मुनिराज के द्वारा धर्म का उपदेश सुना। इसके बाद उन्होंने हाथ जोड़कर अपने चित्त के दुःखी होने का कारण कहा-"विभो! आपने जीवंद्यशा के सामने जो-जो बातें कहीं थीं, वे मुझे भी सुना दी जायें, तो बहुत दया हो, क्योंकि आपका कहना कभी झूठ नहीं होता।"

मुनिराज बोले- "राजन्! तुम्हारी भार्या के तीन पुत्र युगल उत्पन्न होंगे और जब-जब वे उत्पन्न होंगे, तब-तब कौशाम्बी नगरी में वृषभदत्त सेठ की स्त्री के भी (जो इनके पूर्व जन्म की माता है।) तीन पुत्र युगल उत्पन्न होंगे

परन्तु वे मरे हुए होंगे, सो देवता इन पुत्रों का तत्काल ही स्थान परिवर्तन कर दिया करेंगे अर्थात् तुम्हारी भार्या के युगलों को तो वृषभदत्त के यहाँ रख आवेंगे और मरे हुए युगलों को तुम्हारी भार्या के समीप लाकर रख जावेंगे। कारण तुम्हारे जो पुत्र होंगे, वे नियम से चरम शरीरी (उसी भव से मोक्ष जाने वाले) होंगे। इसलिए तुम कुछ भी दुःख मत करो और जो चौथी बार गर्भ होगा, उससे शत्रु कुल का नाश करने वाला सातवाँ जनार्दन (श्रीकृष्ण) होगा। निश्चय समझो कि उसी के द्वारा जरासन्ध और कंस का सर्वनाश होगा। वह प्रबल प्रतापी तीन खण्ड का स्वामी होगा। वसुदेव मुनिराज के वचनों से बहुत सन्तुष्ट हुए और मुनिराज को नमस्कार करके देवकी के साथ-साथ अपने घर लौट आये । यहीं से कंस और वसुदेव अपने-अपने चित्त में अनबन रखने लगे, परन्तु बाहर इस तरह रहने लगे जैसे ऊपर से सुन्दर बेर हो। कुछ काल बीतने पर देवकी गर्भवती हुई, जब गर्भ सात महीने का हो चुका, तब उसे कंस आकर अपने घर लिवा ले आया, पूर्णदिन हो जाने पर जब देवकी प्रसवोन्मुखी हुई तब कंस ने बड़ी ही सावधानी से उसकी रक्षा की, प्रसूति के दिन इधर तो देवकी के दो सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुए उधर देव उन्हें ले जाकर वृषभदत्त के यहाँ रख आये और उसके उसी समय उत्पन्न हुए दो मृत पुत्रों को देवकी के पास लाकर रख गये। जब कंस को भी खबर लगी कि देवकी के पुत्र हुए हैं, तब वह शीघ्र ही आया और बड़ी ही निर्दयता से उन मरे हुए बालकों को भी उसने पांव पकड़कर पछाड़ दिये, कंस की यह निर्दयता देखकर देवकी और वसुदेव बड़े ही दुःखी हुए। देवकी कुछ दिन तक और भी कंस के यहाँ ठहरी, बाद में अपने घर पर आ गई। आगे निर्दयी कंस ने दूसरे और तीसरे युगलों की भी यही हालत की। यह बड़ा ही अच्छा हुआ, जो देवता उनका पहले से स्थान परिवर्तन कर देते थे। यद्यपि देवकी के पुत्र चिरंजीवी थे तो भी उसे उनके वियोग का बड़ा ही दुःख होता था, पर क्या करें विवश थी। कंस से छुपाने के लिए उसे ऐसा करना पड़ता था। अस्तु, वसुदेव ने भी अपने वचनों के पालन करने में किसी तरह की आनाकानी न की।

कुछ समय बीत जाने पर एक दिन देवकी सुखपूर्वक सोती हुई थी कि उसे रात्रि के अन्तिम प्रहर में केशरी, गजराज, चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, समुद्र, कमल और भवनवासी देवों का स्थान ये आठ बातें स्वप्न में दीख पड़ीं। उन्हें देखकर वह जाग उठी और प्रातःकाल होते ही अपने स्वामी के पास गई और वहाँ उनसे रात्रि में देखे हुए स्वप्नों का सब हाल ज्यों का त्यों कह सुनाया, सुनकर वसुदेव ने उसका फल यों कहा देवि, आज ही रात्रि में तेरे गर्भ में शत्रु कुल के नाश करने वाले नवमे वासुदेव का अवतार हुआ है। वह पिता का दुःख दूर करने वाला होगा। इस फल के सुनने से देवकी को बहुत ही हर्ष हुआ परन्तु साथ ही उसे चिन्ता भी बड़ी भारी हो गई। उसने स्वामी से कहा- नाथ! आपने यह नहीं कहा कि यह पुत्र जी कैसे सकेगा? उत्तर में वसुदेव ने यह कहकर उसके चित्त का सन्तोष कर दिया कि इस बालक की भी देव रक्षा करेंगे, तुझे दुःखी नहीं होना चाहिए। क्योंकि यह पुत्र बड़ा ही भाग्यशाली होगा। गर्भ धीरे-धीरे बढ़ने लगा, देवकी ने दोहद में सिंहासन पर बैठकर अपना मुख तलवार में देखा, यह गर्भ पाँच ही महीने का हुआ था कि कंस आकर देवकी को अपने घर लिवा ले गया और प्रतिदिन बड़ी ही सावधानी से उसकी रक्षा करने लगा। भादों के महीने के कृष्ण पक्ष की अष्टमी को जब कि मूसलाधार पानी बरस रहा था और रोहिणी नक्षत्र का योग था, देवकी ने सातवें महीने में शुभ लक्षणों से युक्त सुन्दर पुत्ररत्न का प्रसव किया। उस समय देवकी ने बड़ी ही होशियारी कर गुप्त रीति से अपनी अनुचरी को वसुदेव के पास भेजी, उसने जाकर वसुदेव से कहा- महाराज! आज आपके पुत्र रत्न हुआ है, किसी तरह उसकी रक्षा करनी चाहिए। यह सुनते ही वसुदेव प्रसूति गृह में गये, जिनके पांवों की आहट तक भी किसी ने न सुनी। कुछ दूरी पर ताला लगा हुआ मिला परन्तु पुत्र के पांव लगने से उस वक्त वह खुल गया। आगे बालक के नाक में जलबिन्दु के चले जाने से उसे छींक आ गई और उसे वहीं पर कारागृह में पड़े हुए उग्रसेन (कंस का पिता) ने सुन ली, सुनते ही बच्चे को उन्होंने शुभाशीर्वाद दिया कि चिरंजीव रहो!, वसुदेव

सुनकर झट से उग्रसेन के पास पहुँचे और उन्होंने प्रार्थना की "कि महाराज! यह हाल छुपा रहना चाहिए। आप किसी से भी न कहें। उग्रसेन ने वसुदेव से बहुत प्रेम के साथ में कहा- तुम इसकी चिन्ता न करो। इस सुन्दर बालक को गुप्तरीति से जल्दी से ले जाओ, जहाँ इसकी ठीक-ठीक सुरक्षा हो सके। कारण इसी के द्वारा मैं बन्धन से छूट सकूँगा। वसुदेव बच्चे को लेकर बाहर निकले, उस वक्त जल बरस रहा था सो उससे बचने के लिए वसुदेव के साथ बच्चे को लिए हुए नदी के किनारे पर पहुँचे देखा कि यमुना किनारों को ताड़ती हुई वेग के साथ वह रही है, उसका पूर आ रहा है। परन्तु ज्यों ही इन्होंने नदी में पैर दिये, त्यों ही उस प्रतापी पुत्र के पुण्य प्रभाव से यमुना का जल घुटनों तक हो गया और तब ये कुशलतापूर्वक दूसरी पार वृन्दावन जा पहुँचे जहाँ नन्द ने इन्हें आते हुए देखकर विचारा कि "आज किसलिए ये पूज्य महात्मा मेरे घर पर आये हैं?" और समीप आने पर पूछा कि "आप किसलिए पधारे हैं?" वसुदेव ने अपनी दुःख भरी जितनी कहानी थी, सब कह सुनाई, "देखो! कंस ने मेरे छह पुत्र पहले मार डाले हैं, यह सातवाँ पुत्र है। मैं बड़े भारी पुण्य से इसे यहाँ तक ला पाया हूँ। सो अब जिस तरह हो सके, तुम इस बच्चे का पालन करना। परन्तु ध्यान रहे इस बात को कंस न जान ले, नहीं तो करे कराये पर सब पानी फिर जाएगा? नन्द ने कहा- नाथ! मुझे कहना यह है कि आज मेरे यहाँ पुत्री उत्पन्न हुई है सो उसे तो आप ले जाकर देवकी को दे दीजिए और इस बालक को मेरे घर छोड़ जाइए। इसे कंस किसी तरह जान न सकेगा, आप निश्चिंत रहें, कंस पुत्री को देखकर किसी तरह का विघ्न भी नहीं करेगा और यदि करेगा तो उससे हमारी क्या हानि है? आप यह न विचारें कि मेरी पुत्री की नाहक जान जाएगी। यदि यह पुत्र चिरंजीव रहेगा तो मैं समझूँगा मेरे बहुत सी पुत्रियाँ हैं।

नन्द की सहृदयता देखकर वासुदेव को बड़ी प्रसन्नता हुई, वे अपने बच्चे को उसे सौंपकर तथा उसकी पुत्री को आप लेकर शीघ्र ही लौट आये और उस कन्या को देवकी के पास लिटा कर अपने घर चले आये। पुत्र की

चिन्ता का भार निकल जाने से इस दिन उन्हें खूब निद्रा आई। उधर स्त्रियाँ जगीं और पुत्री हुई जानकर स्वामी के पास जाकर बोलीं कि नाथ! देवकी के अब की बार सुन्दर कन्या हुई है। यह सुनते ही कंस को बड़ा क्रोध आया, वह उसी वक्त प्रसूति घर में गया और जाकर देखता है तो वास्तव में पुत्री हुई है। उस वक्त उसने विचार किया कि इसी कन्या के द्वारा मेरी जीवन यात्रा पूरी होगी अथवा इसके पति के द्वारा? यदि इसका पति मेरा घातक होगा तो मैं ऐसा उपाय क्यों न करूँ जिससे इसे कोई चाहे ही नहीं। यही विचार कर पापी कंस ने बेचारी कन्या की नाक काट ली और इसके पश्चात् कन्या देवकी को सौंपकर वह अपने स्थान पर चला गया। प्रसूति का समय बीत जाने पर देवकी भी अपने घर चली आई। इधर बालक तो दिनोंदिन गोकुल में बढ़ने लगा और उधर कंस के घर में सुख की इति श्री के कारण तथा कुल के भावी विनाश सूचक उत्पात होने लगे। उनसे घबराकर कंस ने नैमित्तिक लोगों से पूछा- मेरे घर में ये उत्पात क्यों होते हैं? ज्योतिषी बोले- वन में कोई तुम्हारा शत्रु बढ़ रहा है। उसके द्वारा तुम्हारी जीवन लीला पूरी होगी। यही कारण उत्पात होने का है, ज्योतिषी लोगों के वचनों को सुनकर कंस को बड़ी ही चिन्ता हुई। उसने अपनी रक्षा का और कोई उपाय न देखकर पूर्व जन्म के मित्र देवों का आराधन करना आरम्भ किया। जब वे प्रत्यक्ष हुए, तब उनमें से एक को आज्ञा दी, तुम किसी तरह मेरे शत्रु को मारो, आज्ञानुसार वह पूतना का वेष धारण कर नन्द के यहाँ आया और अपने स्तनों पर विष लगा कर बालक को दूध पिलाने लगा, बच्चे ने उसकी बुरी वासना जान ली सो दूध पीने के छल से उसने उसके स्तनों को ही काट डाला। कपटवेषी पूतना चिल्लाकर आकाश की ओर भागी। दूसरे दिन अन्य देव उदूखल, शाल्मली और शंकर आदि कितने ही वेष धारण करके आये, किन्तु भाग्यशाली बालक का कुछ भी नहीं बिगाड़ सके।

एक दिन कंस श्रीकृष्ण को देखने के लिए व्यग्रचित होकर भय से डरता-डरता स्वयं वन में आया। कंस को आता हुआ देखकर यशोदा ने बड़ी

बुद्धिमानी से श्रीकृष्ण को गायें चराने के छल से वन में भेज दिया। जब कंस ने आकर देखा कि श्रीकृष्ण वहाँ नहीं है, तब उसने अपनी विद्या से पूंछा कि "श्रीकृष्ण इस वक्त कहाँ है?" उत्तर में विद्या ने कहा कि "वन में है। कंस ने वहाँ अपना जाना असंभव समझ कर देवताओं को भेजा और कह दिया कि "देखते ही उसे मार डालो," आज्ञा पाते ही दैत्य दौड़े गये और आकाश से पत्थरों की भीषण वर्षा करने लगे। इससे गायों को और ग्वालों को बड़ा ही कष्ट पहुँचा। वे अपनी रक्षा के लिए इधर-उधर भागने लगे। श्रीकृष्ण ने जब यह हाल देखा तो उन्होंने सारे गोवर्धन पर्वत को बायें हाथ से उठा लिया, श्रीकृष्ण के द्वारा पर्वत का उठाया जाना देखकर दैत्य भागे और कंस के पास जाकर श्रीकृष्ण की सब लीला सुनाने लगे। सुनते ही कंस डरा और जल्दी से अपने महलों में चला गया। उपद्रव शान्त हुये जानकर श्रीकृष्ण भी स्वच्छन्द होकर क्रीड़ा करने लगे।

श्रीकृष्ण को पढ़ाने का भार बलभद्र को सौंपा, वे ही प्रतिदिन उन्हें पढ़ाया करते थे। कृष्ण के बल की बात जब बलभद्र अपने कुटुम्बियों को सुनाते थे, तब उसे सुनकर उन्हें बड़ा ही हर्ष होता था। देवकी जब पुत्र की प्रशंसा सुनती तो उसे भी उसको देखने की बड़ी ही उत्कण्ठा होती, वह बलभद्र को सदा कहा करती थी कि कभी मुझे भी श्रीकृष्ण के दर्शन कराना। एक दिन बलदेव देवकी को अष्टमी का प्रोषध करवाकर पूजा के बहाने से गोकुल में लिवा ले गये। वहाँ जिन भगवान की पूजा करके देवकी ने गोकुल की शोभा बड़े ही सुन्दर रूप में देखी। कहीं गाय के बछड़ों की क्रीड़ा, कहीं गायों का रंभाना, कहीं बाँसुरी बजाते हुए ग्वालों का नृत्य, कहीं मेघ सरीखी ध्वनि करता हुआ दही बिलोने का शब्द , कहीं गोपियों का नवनीत को गरम करना, कहीं गायों के दूध निकालने के समय का धाराशब्द, कहीं दूध के आकण्ठ भरे हुए बहुत से कलश, कहीं रास्ते में खड़े हुये गाय के बछड़ों का शब्द और कहीं बैलों का दहकना इसी तरह गोकुल की शोभा देखकर देवकी बहुत ही प्रसन्न हुई और साथ ही हृदय में खेद भी करने लगी कि मुझसे तो ये गोपियाँ हीं

बहुत भाग्यवती हैं जो पुत्र पौत्र का आनन्द देखकर खुशी के साथ दिन बिताती हैं।

यशोदा देवकी को आई देखकर बहुत खुश हुई और भक्तिपूर्वक उसके चरणों को नमस्कार कर उसके बठने के लिये आसन लाई और दोनों हाथ जोड़कर बोली "देवी! आज तेरे आने से मेरा सारा गोकुल पावन हो गया। मैं आज सनाथ हुई तू मेरी माता है और आज से तू मुझे अपनी दासी समझ।" यह सुनकर देवकी विनयवती यशोदा से बोली- "यशोदा! मेंने सुना है कि तुझे बड़े प्रतापी पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई है। सो क्या तू मुझे अपने पुत्र के दर्शन करावेगी?" यशोदा जल्दी से जाकर पुत्र को ले आई और उसे देवकी के सामने बैठा दिया। उस समय पुत्र की शोभा बड़ी ही सुन्दर थी- उसका ग्वालों जैसा वेष, सिर पर मयूरपिच्छ और मुकुट, बंशी का बजाना और सिन्दूरमय शरीर मन को मुग्ध किये देता था। उस वक्त श्रीकृष्ण के साथ बहुत से ग्वाल बाल भी थे। कृष्ण आते ही देवकी के चरणों को नमस्कार कर उसके सामने बैठ गया। देवकी पुत्र को गोद में बैठाकर उसके मुख की शोभा को अतृप्त होकर बार - २ देखने लगी।

इसके पश्चात् वह यशोदा से बोली- "यशोदा! तू बड़ी ही सौभाग्यवती है, जो तेरे यहां ऐसा पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि तू इस पुत्र के पुण्य से बहुत ही सुख भोगेगी।" यह कहते -२ पुत्रप्रेम से देवकी के स्तनों से दूध झरने लगा और उसी दूध से उसकी सारी कंचुकी भीग गई। बलभद्र को देवकी के स्तनों से दूध झरता हुआ देखने से बड़ा ही आश्चर्य हुआ। वह सोचकर कि "इसकी यह हालत कोई दुष्ट कंस से जाकर न कह दे", जल्दी दूध का भरा हुआ घडा उठा लाया और उससे उसने देवकी को स्नान करा दिया। यशोदा बोली- "मात! गोकुल में तेरे योग्य ऐसी कोई उत्तम वस्तु नहीं हैं जिससे तेरा सत्कार करती, इसलिए दूध ही से तुझे स्नान कराना पड़ा है।" इसके बाद बलभद्रजी देवकी को रथ में बैठाकर अपने घरपर चले गये। देवकी ने जाते वक्त पुत्र को आशीर्वाद दिया कि-"प्यारे! गायों का पालन करते रहना,

तू हमारा भी गोपाल है । नन्दनन्दन! प्रतिदिन तेरी वृद्धि हो और तेरे माता पिता सदा सुखी रहें।" इतना कह कर देवकी अपने घर चली आई। सच है, अपने जाये पुत्र के मुखका दर्शन किसे आनन्दित नहीं करता?

कृष्ण गोकुल में रहकर सुखपूर्वक खेल कूद में दिन बिताने लगा। बलभद्र उसे प्रतिदिन सुन्दर-२ भूषण वस्त्रादि से भूषित किया करते थे। श्रीकृष्ण था तो बालक ही? सो गोपियों के साथ खूब ही लीला किया करता था। कभी उनके वस्त्र खींच लेता था और कभी उनका दूध दही ढोल दिया करता था। उधर बिचारे कंस को सुख नहीं। उसके लिये रात्रि में नींद लेना तक मुश्किल हो गया। भूख प्यास जाती रही। वह बड़े ही संकट में पड़ा, परन्तु शत्रु का पता उसे तब भी नहीं लगा। निदान उसने दूसरा उपाय सोचकर सब ग्वालों को बुलवाया और उन्हें आज्ञा दी कि तुम लोग जाकर यमुना सरोवर के कमल ले आओ। उन ग्वालों में श्रीकृष्ण भी था, वह झठ से बोल उठा कि महाराज! कमल तो मंगवाये गये परन्तु यह नहीं कहा कि "यमुना सरोवर किस देश में है। कंस क्रोध में आकर बोला तुझे इससे मतलब? जो कार्य दिया है उसे पूरा कर। उसके कहने को स्वीकार कर श्रीकृष्ण वहाँ से चला, उसके साथ-साथ बलभद्र तथा दूसरे ग्वाल भी गये और यमुना सरोवर के किनारों पर बैठकर उसके जल की शोभा देखने लगे। इतने में श्रीकृष्ण चन्द्र वृक्ष के ऊपर चढ़कर तालाब में कूद पड़ा और पाताल में पहुँचकर सर्पराज के पास जाकर उसने कमल के लिए प्रार्थना की, थोड़ी देर में वह कमल लेकर बाहर आ गया। उधर जब यशोदा ने सुना कि पुत्र यमुना के तालाब के कमल लेने को गया है, तब दुखी होकर अपने पुत्र के साथ-साथ पानी में गिरने को जल्दी दौड़ी आई। परन्तु तालाब की भयंकरता देखकर मारे डर के वैसे ही किनारे पर खड़ी रह गई। सच है मृत्यु का भय सबसे बड़ा भय है, श्रीकृष्ण के सकुशल बाहर निकल आने पर ग्वालों को बहुत ही खुशी हुई, खुशी के मारे वे बांसुरी बजाकर नाचने लगे। श्रीकृष्ण बलभद्र और ग्वालों के साथ वापस मथुरा आया। उसे देखकर लोगों ने उसकी बहुत कुछ प्रशंसा की, श्रीकृष्ण राजसभा

में पहुँचा। उसे देखकर लोगों ने उसकी बहुत कुछ प्रशंसा की, श्रीकृष्ण ने कमल, कंस के सामने रख दिये और उसे नमस्कार किया। कमलों को देखते ही कंस मानसिक व्यथा से बहुत दुखी हुआ, फिर भी उसने कुछ विचारक ग्वालों से कहा "तुम जानते हो, मेरे यहाँ एक नागशय्या है। जो उसके ऊपर शयन करेगा, उसे वह शैय्या दे दी जायेगी, जो पुरुष मेरे सारंग धनुष पर डोरी चढ़ा देगा उसे वह धनुष पारितोषिक में दे दिया जावेगा और जो मेरे पांचजन्य शंख को बजावेगा उसे वह शंख भी दे दिया जावेगा।" कंस का कहना था कि "श्रीकृष्ण चन्द लोगों के देखते-देखते जाकर शैय्या पर सो गया, धनुष चढ़ा दिया और पांचजन्य शंख भी उसने पूर दिया। कृष्ण की उस समय सब लोगों ने हृदय से उसकी स्तुति की, वीर श्रीकृष्ण को देखते ही कंस का मुख मण्डल कुम्हला गया। उस वक्त बलदेव ने बड़ी होशयारी से श्रीकृष्ण को भय दिखाकर कहा "क्यों रे मूर्ख! सब गायों को छोड़कर बैठे-बैठे तुझे यहाँ कितना समय बीत गया। इन सब अपने साथी ग्वालों को लेकर वृन्दावन को क्यों नहीं जाता? सुनते ही श्रीकृष्ण उठा और शय्या धनुष तथा शंख लेकर वन की ओर चला गया। कंस को इन बातों से बड़ा ही दुःख पहुँचा, फिर उसने एक और उपाय श्रीकृष्ण के मारने के लिए विचारा। वह यह कि उसके यहाँ दो पहलवान थे, उनके नाम थे चाणूर और मुष्टिक। उन्हें बुलाकर कंस ने एकान्त में पूछा "क्या तुम लोग कुछ करके बता सकोगे?" उत्तर में पहलवानों ने कुछ हँसकर कहा "महाराज! हम लोग क्या कर सकते हैं? यह बात तब जानी जा सकेगी जब कि एक बार शत्रु की और हमारी मुठभेड़ करा दोगे, पहले कुछ कहना व्यर्थ है।" उनके कहने से कंस को बड़ा ही सन्तोष हुआ। उसने उसी दिन से पहलवानों के लड़ने के लिए अखाड़े के लिए अखाड़े का काम आरम्भ करवा दिया और ग्वालों को बुलवाकर उनसे कहा कि "तुम लोगों को भी किसी दिन लड़ने के लिए मेरे यहाँ अखाड़े में आना चाहिए। यहाँ पहलवानों की कुश्तियाँ होंगी।" बलभद्र ने यह सब हाल जाकर श्रीकृष्ण से कह दिया, वसुदेव ने शौर्यपुर में अपना दूत भेजा और यादवों को बुलवाया। समाचार सुनते ही

यादव आ पहुँचे। जब कंस ने यह सुना कि सब यादव मिलकर यहाँ आ रहे हैं तब उसे बड़ी भारी कठिन समस्या में फँसना पड़ा। कंस ने विचारा कि "अब ऐसे काम न चलेगा" सो उसने सामने जाकर उन लोगों का बड़ा ही आदर सत्कार किया तथा वसुदेव को किसी तरह समझाकर वह अपने घर लिवा ले गया। यादवगण मिलकर विचार करने लगे कि "देखो! दुष्ट ने तो श्रीकृष्ण के मारने के लिए बड़ी ही दुष्टता फैला रक्खी है। अब यदि यह कुछ दुष्टता करे तो इसे नियम से मार देना चाहिए।" यह निश्चय कर यादव शान्ति से रहने लगे।

एक दिन प्रातःकाल बलदेव वृन्दावन गये और जाकर यशोदा से बोले- "यशोदा जल्दी स्नान तथा भोजन की तैयारी कर, क्योंकि हमें मल्लयुद्ध के लिए बहुत शीघ्रता से मथुरा जाना है।" युद्ध का नाम सुनते ही यशोदा एकदम ठंडी हो गयी। उसे शिथिल देखकर बलदेव ने रुष्ट होकर कहा क्यों तुझे भी घमण्ड आ गया जो मेरे कहने को टाल रही है।" बलदेव के दपटने से यशोदा के नेत्रों से आँसुओं की धारा बह निकली। माता को रोती हुई देखकर श्रीकृष्ण को बहुत दुःख हुआ। बलदेव, श्रीकृष्ण की यह हालत देखकर लिवा ले गये और बोले "तुम्हारे मुख के मलीन होने का क्या कारण है? ठीक-ठीक कह," उत्तर में श्रीकृष्ण ने कहा "आपने क्रोध में आकर मेरी माता को जब गाली तक दे डाली, तब मुझे दुःख क्यों न हो?"

बलदेव श्रीकृष्ण का आलिंगन कर बोले 'भाई! यशोदा तुम्हारी सच्ची माता नहीं है, सच्ची माता देवकी है। पापी कंस ने पहले तुम्हारे छह भाइयों को मार डाला था और तुम्हें भी मारना चाहता था। इसलिए जन्मसमय तुम्हारा स्थान परिवर्तन कर दिया गया था और बदले में यशोदा की पुत्री को ले जाकर तुम्हारी माता को दे दी थी। तुम्हें मैं यशोदा के घर पहुँचा आया था, यशोदा ने पुत्र की इच्छा से दूध पिलाकर तुम्हें बढ़ाया है, कंस ने जो अन्याय किये हैं उन्हें तुम क्या नहीं जानते? आज भी वैसे ही दुष्टता उसने विचारी है। वास्तव में यह मल्लशाला तुम्हारे ही मारने के लिए बनवाई गई है। यह नहीं मालूम होता

है कि आज क्या होगा? तथा हमारी क्या हालत होवेगी?" बलभद्र के कहने को सुनकर और अपने वास्तविक माता-पिता का हाल जानकर श्रीकृष्ण को बहुत आनन्द हुआ। उन्होंने कहा "यशोदा मेरी वास्तविक माता नहीं है, तो क्या हुआ? जब वे मुझे पालती हैं तो उनको पूज्य समझना ही चाहिए।" इसके पीछे नदी में स्नान कर दोनों घर गये। श्रीकृष्ण ने माता को नमस्कार कर भोजन की याचना की। यशोदा दोनों के लिए आसन लाई और उसने उनसे बैठने के लिए कहा, दोनों सहर्ष बैठे और भोजन के लिए हाथ धोये। यशोदा ने उत्तम-उत्तम भोजन परोसा, भोजन से निवृत्त होकर वे दोनों भाई युद्ध के लिए सुसज्जित हुये और माता को नमस्कार कर ग्वालों के साथ-साथ मथुरा की ओर रवाना हुये। रास्ते में बन्दीजन उनका यशोगान करते हुये उन्हें उत्तेजित करते जाते थे, जब कंस ने सुना कि श्रीकृष्ण आ रहे हैं, तब उसे बड़ा ही भय हुआ। उसने और कुछ उपाय न देखकर बन्दीजनों के द्वारा बहुत से अपशकुन करवाये और दैत्यों के द्वारा उपद्रव करवाये, फिर भी श्रीकृष्ण और बलदेव वापिस ना लौटे। जब ये बलवान वीर मथुरा में आ पहुँचे तब लोगों ने देखकर जान लिया कि अब कंस की कुशल नहीं है। ये लोग उसी वक्त यादवों के साथ मल्लशाला में गये जहाँ कंस बैठा हुआ था। पहुँचते ही श्रीकृष्ण लड़ने के लिए तैयार होकर जा बैठा। कंस ने डरते-डरते चाणूर और मुष्टिका को लड़ने के लिए कहा। मुष्टिका उठा ही था कि बलदेव ने उसे बायं हाथ से रोक दिया और अपनी मुष्टि मुष्टिका के सिर पर मारनी चाही, इतने में कंस बोल उठा तुम भी अकेले इसके साथ क्यों नहीं लड़ते? कंस का तो कहना था कि बलदेव ने मुष्टिका को जमीन पर दे मारा। उधर श्रीकृष्ण ने भी चाणूर को छाती से दबाकर यम के घर पहुँचा दिया। जब कंस ने देखा कि इन लोगों ने ऐसे दुर्जय पहलवानों को भी मार दिया, तब उसे बड़ा ही क्रोध आया। वह स्वयं खड्ग लेकर उठा और लाल-लाल आँखें कर श्रीकृष्ण से बोला कि "क्यों रे दुष्ट! तू ने मेरे वीर पहलवानों को क्यों मारा? वे तो बेचारे केवल लीला से लड़ रहे थे, यदि तेरी दुष्टता उन्हें मालूम हो जाती तो वे तुझे इसका मजा पहले ही से चखा देते।

अस्तु! मैं ही इस दुराचार का बदला चुकाकर तुझे यम मन्दिर पहुँचा देता हूँ।" कंस यह कहकर उठा और खड्ग हाथ में उठाकर श्रीकृष्ण को मारने के लिए सन्मुख आया, उसे अपने सामने आता हुआ देखकर श्रीकृष्ण ने और कुछ न पाकर हाथी के बांधने के खंभे को उखाड़ा और सामने आगे बढ़कर कहा- "रे दुष्ट! क्या नहीं जानता कि तू ने मेरे छह भाईयों को मारा है। देख मैं उन सभी का बदला एक ही बार में चुकाता हूँ।" यह कहकर श्रीकृष्ण कंस पर टूट पड़े, इतने में यादव भी युद्ध के लिए उठ खड़े हुए। भीषण युद्ध हुआ, बहुत से लोग मारे गये, अन्त में श्रीकृष्ण ने कंस को खंभे से इस तरह मारा कि वह गतप्राण होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा, कंस के मरते ही उसकी सेना भी जिधर जगह मिली उधर भागी और सब जगह श्रीकृष्ण की आज्ञा का विस्तार हुआ। कंस का अग्नि संस्कार कर सब यादव घर पर आ गये और निष्कण्टक होकर उन्होंने देवकी के यहाँ भोजन किया।

उधर जब जीवंद्यशा ने स्वामी की मृत्यु का हाल सुना, तब उसे बहुत ही दुःख हुआ। वह उसी वक्त राजगृह में गई और अपने पिता जरासंध के सामने अपनी चूड़ियाँ फोड़ कर तथा स्वामी के मरण का हाल कहकर रोने लगी। जरासंध उसकी यह दशा देखकर बोला "पुत्री! क्यों रोती है? देव का लेख मिट नहीं सकता। तू चिन्ता मत कर तेरे स्वामी को मारकर वह भी बहुत काल न जी सकेगा। देखूँ, अब वह कहाँ जाकर रहता है? तू महल के भीतर जा और अब इस विषम दुःख से बचने का उपाय कर, उस पापी को तो मैं अभी यमपुर पहुँचाये देता हूँ।" पुत्री को महल के भीतर भेजकर जरासंध ने यादवों पर स्वयं युद्ध की तैयारी की, जरासंध को जाता हुआ देखकर उसके भाई ने प्रार्थना की कि "नाथ! आप कहाँ जाते हैं" उत्तर में जरासंध बोला "आजकल यादव बड़े ही मदोन्मत्त हो रहे हैं। उन्हीं का मुझे सर्वनाश करना है।" सुनकर अपराजित ने बड़े भाई से प्रार्थना की कि "भाई! बिचारे यादव दीन हैं, उन पर आप क्रोध क्यों करते हैं। यदि आप इनको मारना ही उत्तम समझते हैं तो आप ठहरें, मैं जाकर इनका नामशेष किये देता हूँ।" यह

कहकर अपराजित बड़ी भारी सेना के साथ निकला और जल्दी से मथुरा जा पहुँचा, उस वक्त सब यादव भी वहीं थे। सो अपराजित का आना सुनकर वे भी रणभूमि में आ पहुँचे। कृष्ण और अपराजित का भीषण युद्ध हुआ, अन्त में श्रीकृष्ण ने खड्ग के द्वारा अपराजित को भी यमपुर पहुँचाया। अपराजित के मरते ही उसकी सारी सेना चारों दिशाओं में भाग गई। यादव लोग निष्कण्टक होकर उनमें से कितने मथुरा में ही ठहरे और कितने शौरीपुर को चले गये।

श्रेणिक ने भगवान गौतम गणधर से कहा- "नाथ! मुझे कुछ पूछना है, वह यह कि श्री नेमिनाथ के चरित्र सुनने की मेरी इच्छा है।" श्रेणिक के पूछने पर गौतम भगवान श्री नेमिनाथ का चरित्र यों कहने लगे- यादवों के स्वामी समुद्र विजय नामक राजा थे। उनकी प्रधान महारानी का नाम था शिवादेवी। एक दिन शिवादेवी अपने शयनागार में सुखपूर्वक सोई हुई थी कि उसे जिनेन्द्र के अवतार के सूचक गजराज, वृषभ, केसरी, दो कलशों से स्नान करती हुई लक्ष्मी, दो पुष्पमालायें, अखण्ड चन्द्रबिम्ब, उदय होता हुआ सूर्य, मीनयुगल, दोकलश, कमलों से शोभित सरोवर, गंभीर समुद्र, सुन्दर सिंहासन, छोटी-छोटी घण्टियों से सुशोभित विमान, धरणेंद्र का भवन, प्रदीप्त रत्नसमूह, निर्धूमअग्नि आदि वस्तुयें स्वप्न में दीख पड़ीं। इसके बाद उसने अपने मुख में प्रवेश करते हुए हाथी को देखा। स्वप्न देखकर देवी जग गई ।प्रातःकाल हुआ, शौच स्नानादि से निवृत्र होकर वह सखियों के साथ राजसभा में गई। महाराज ने महारानी को अपने पास बांयी ओर बैठाकर कहा- "देवी! आज क्या विचार करके आई हो?" महारानी बोली- "नाथ! रात्रि के अन्तिम समय में मैंने कई स्वप्न देखे हैं। उनका फल आपसे पूछने के लिए आई हूँ।" यह कहकर उसने सब स्वप्न ज्यों के त्यों कह सुनाये जो रात्रि में देखे थे। महाराज स्वप्न सुनकर उनका फल कहने लगे कि "देवी! तुम्हारे गर्भ में तीर्थंकर अवतार लेंगे, जिनकी आज्ञा का सम्मान देवता तक करते हैं। उनके अवतार के छह महीने पहले ही से प्रतिदिन देवता अपने घर पर रत्नवर्षा करेंगे और दिक्कुमारियां तुम्हारी

सेवा के लिए उत्कण्ठित हो रही होगीं।" शिवादेवी भगवान की उत्पत्ति अपने पति से सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुई और फिर सखियों के साथ महलों में चली गई।

कुछ दिनों बाद देवताओं के द्वारा पूज्य उस गर्भ की दिनों दिन वृद्धि होने लगी, उसके भार से शिवादेवी को किसी तरह की तकलीफ न हुई, जैसे प्रतिबिम्ब के पड़ने से दर्पण की किसी तरह हानि नहीं होती है। गर्भ पूर्ण दिनों का हुआ। श्रावण मास शुक्ल पक्ष में षष्ठी के दिन शुभमुहूर्त में चित्रा नक्षत्र का योग होने पर सौभाग्यवती शिवादेवी ने त्रिभुवन महनीय पुत्र प्रसव किया। पुत्र के उत्पन्न होते ही नगर भर में आनन्दोत्सव होने लगा, देवों के आसन चलायमान हुये और सुन्दर-सुन्दर बाजों का मनोहर शब्द होने लगा। सौधर्मेन्द्र अवधिज्ञान से यह जानकर कि इस समय भारतवर्ष में तीर्थराज का अवतार हुआ है, उसी वक्त ऐरावत हाथी के ऊपर चढ़कर देवताओं और अपनी इन्द्राणी के साथ वहाँ से रवाना हुआ। दुन्दुभि घण्टा आदि बाजों का इतना शब्द हुआ कि दिशायें गूँज उठीं। शब्द का सुनना तक कठिन पड़ गया, थोड़े में यों कह लीजिए कि बड़े भारी महोत्सव के साथ महेन्द्र शौरीपुर में आया और उसने सभक्ति वहीं पर पंचाश्चर्य की वर्षा की।

इन्द्र ने बहुत बड़े ऐश्वर्य से शहर को सुसज्जित किया और पश्चात् अपनी प्रिया को भगवान के लाने के लिए राजमहल में भेजा। इन्द्राणी स्वामी के कहे अनुसार प्रसूतिगृह में गई और वहाँ अपनी दिव्य शक्ति से ठीक वैसा ही एक सुन्दर बालक रखकर श्रीनेमिनाथ को उठा लाई। लाकर उसने भगवान इन्द्र के हाथ में रख दिये। इन्द्र उन्हें ऐरावत हाथी पर बैठाकर बड़े समारोह के साथ-साथ सुमेरु पर्वत पर ले गया। वहाँ से पाण्डुक वन में लें जाकर उसने भगवान पाण्डुक शिला पर विराजमान किये और अभिषेक क्रिया का आरम्भ किया। सब देवता लोग रत्न तथा सुवर्ण के बने हुये एक हजार आठ कलश अपने हाथ में लेकर क्षीर समुद्र पर गये। उन्होंने समुद्र से लेकर पर्वत पर्यन्त कलशों की ऐसी सुन्दर श्रेणी बांध दी, जो मन को मुग्ध किये देती थी। बाद में

इन्द्र १००८ कलशों से भगवान का अभिषेक करने लगा। इस समय सुमेरु पर्वत अभिषेक के जल से ऐसा मालूम होता था मानों वह चाँदी का बना हुआ हो। जब भगवान का क्षीराभिषेक हो चुका, तब दूसरे जल से अभिषेक कर शची ने जिनराज का शरीर पौंछा और सुगन्धित चन्दनादि का उनके शरीर में विलेपन कर अनेक तरह के सुन्दर फूलों से उनकी पूजा की। पश्चात् इन्द्र भगवान को सोलहों भूषणों से भूषित कर और उनके अंगूठे में अमृत रखकर स्तुति करने लगा-

हे नाथ! हे जिनाधीश! हे विश्वपितामह! हे देवाधिदेव! हे जगन्नाथ! हे परमेश्वर! आप संसार में सदाकाल सर्वोत्कृष्ट रहें आप जगत के स्वामी हैं, सबके द्वारा नमस्कार करने के योग्य हैं, संसार में आपसे बढ़कर और कोई पूज्य नहीं है, आप जगत के देखने और जानने वाले हैं, स्वयंभू हैं, विज्ञान की मूर्ति हैं, अजर हैं, अमर हैं और कर्मों के जीतने वाले हैं। आपको मैं भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ। हे नाथ! आप भक्तनों के रक्षक हैं, दरिद्रता के नाश करने वाले हैं, दुःखदारिद्रता को मिटाने वाले हैं, आप ही कामधेनु (मनोवांछित फल के देने वाले) हैं, ज्ञान मूर्ति हैं, आपमें अनन्त शक्तियाँ हैं, आप किसी से मोक्ष को प्राप्त होने वाले नहीं हैं, वीतराग हैं, इच्छारहित हैं, कामरूप सर्प के नष्ट करने को गरूड़ हैं, कर्मरूप वन के भस्म करने को वह्नि हैं, इच्छित फल देने को चिन्तामणि हैं, आश्रयी जीवों के रक्षक हैं, सज्जनों के पालक हैं, पंचेन्द्रियों के जीतने वाले हैं तथा आपत्तियों के विनष्ट करने वाले हैं। इस प्रकार बहुत देर तक भगवान की सप्रेम स्तुति करके इन्द्र ने भगवान का नाम अरिष्ट नेमि रक्खा और पीछे वह उन्हें ऐरावत हाथी पर बैठाकर शौरीपुर वापिस ले आया। वहाँ आकर उसने माता के पास रख आने के लिए अपनी प्रिया शिवादेवी की निद्रा खुली तो देखते हैं कि पुत्र सोलहों भूषणों से भूषित है। उसे बड़ा ही आश्चर्य हुआ, इसके पश्चात् इन्द्र ने भगवान का जन्म महोत्सव किया, भगवान दिनों-दिन देवकुमारों के साथ-साथ क्रीड़ा करते हुए बढ़ने लगे, उनके लिए कुबेर प्रतिदिन वस्त्राभूषण भेजा करता था।

उधर जब जरासंध ने सुना कि छोटा भाई यादवों के द्वारा मारा गया है, तब उसे बड़ा क्रोध आया। वह उसी समय बड़ी भारी सेना लेकर यादवों से युद्ध करने के लिए चल पड़ा। यादव यह सुनकर कि "जरासंध चढ़कर आ रहा है," बहुत घबराये और सब मिलकर विचारने लगे कि जरासंध से लड़ाई करके हमारा यहाँ रहना उचित नहीं जान पड़ता। अतः कहीं दूसरी जगह भाग चलना चाहिये, जहाँ यह हमारा हाल कुछ भी नहीं जान सके। इस प्रकार निश्चय करके सब यादव जाने के लिए तैयार हुए, उनके पीछे-पीछे नगर के भी लोग चले, जरासंध ने यह देखकर कि सारा शहर ऊजड़ पड़ा हुआ है समझ लिया कि यादव भाग गये इसलिए उसने उनका पीछा किया, आगे-आगे अनेक प्रकार के वाहनों पर चढ़े हुये यादव जा रहे थे और उनके पीछे-पीछे जरासंध। चलते-चलते उन्हें एक सुबल नामक पर्वत मिला, वे सब जल्दी से उस पर चढ़ गये, इतने में जरासंध भी पर्वत की जलहटी में आ पहुँचा। जब यादवों ने देखा कि जरासंध शीघ्रता से पर्वत पर भी चढ़ा आ रहा है तब वे उसके पहुँचने के पहले ही उतरकर आगे को चल दिये, जरासंध पर्वत पर पहुँचा, उसे आशा थी कि यादव पर्वत पर मिल जायेंगे, परन्तु वहाँ उसे उनके स्थान में कहीं चतुरंग सेना, कहीं प्रज्वलित चिता, कहीं हाथियों के समूह, कहीं घोड़े, कहीं हजारों स्त्रियाँ और कहीं सैकड़ों मुर्दे जलते हुए दीख पड़े। थोड़े में यों कहना चाहिए कि उस समय देवों की माया से वह स्थान खासा काल का घर बन रहा था। वहीं पर जरासंघ को एक वृद्ध स्त्री रोती हुई दीख पड़ी। उसने वृद्धा से पूछा- तू कौन है? क्यों रोती है? और यह भयंकर काण्ड क्या हो रहा है? क्या यह किसी के डर के मारे किसी ने किया है और यदि किया है तो क्यों? सुनकर वृद्धा ने कहा सुनिये, जो कुछ हाल है, उसे मैं ज्यों का त्यों सुनाये देती हूँ-

जरासंध नाम का पृथ्वी में प्रसिद्ध एक राजा है, उसी के भय के मारे यादवों ने यह भीषण काण्ड रचा है अर्थात् वे सब यहाँ जलकर भस्म हो गये हैं। मैं कुल परम्परा से उनके घर की दासी हूँ परन्तु मुझे अपना जीवन प्यारा

होने से मैं उनके साथ नहीं जली, उन्हीं के इस असह्य दुःख से दुःखिनी होकर यहाँ बैठी-बैठी रो रही हूँ। वृद्धा के वचन सुनकर जरासंध को बहुत ही खुशी हुई। वह कहने लगा कि "क्या यादवों को मेरा इतना भय है? जो बेचारों के लिए कहीं स्थान तक का ठिकाना नहीं रहा।" आखिर वह यह समझ कर कि "सब यादव जल मरे हैं अब मैं आगे जाकर ही क्या करूँगा?" लौटकर घर पर चला आया और निःशंक होकर राज्य करने लगा। जब यादवों ने सुना कि जरासंध पीछे घर की ओर लौट गया, तब वे भी धीरे-धीरे चलकर समुद्र के पास आ पहुँचे और नाना प्रकार के फल फूलों से सुशोभित उसके किनारे को देखकर उन्होंने वहीं पर रहने का निश्चय कर आगे चलना बन्द कर दिया।

एक दिन श्रीकृष्ण ने दर्भासन पर बैठकर दो उपवास किये और सागरसुर से प्रार्थना की कि "आज मैं तुम्हारा अतिथि हुआ हूँ। अतः मेरे रहने को तुम्हें किसी स्थान की तजबीज करनी उचित है।" उपवास के प्रभाव से सागरासुर ने स्वयं आकर और हाथ जोड़ कर श्रीकृष्ण से प्रार्थना की कि "नाथ! कहिये मुझे क्या आज्ञा देते हैं?" श्रीकृष्ण बोले- "मैंने कहा न कि मैं तुम्हारा पाहुना हुआ हूँ, सो तुम मेरे रहने को स्थान दो और मुझे अपना भाई ही समझो।" सागरासुर बोला- "नाथ! जब तक आप संसार में जीवित रहेंगे, तब तक मैंने आपके रहने को स्थान समर्पित किया।" श्रीकृष्ण ने यह कहकर कि "अच्छी बात है" समुद्र को बारह योजन आगे हटाकर वहाँ का स्थान अपने अधिकार में कर लिया, श्रीकृष्ण की इस अपूर्व शक्ति से और भगवान के वहाँ आने से इन्द्र का भी आसन चलायमान हुआ। उसने भगवान का और श्रीकृष्ण का वहाँ आना समझ कर भगवान की भक्ति से कुबेर को आज्ञा देकर भेजा। कुबेर ने भगवान की भक्ति से आनन्दित होकर एक बहुत सुन्दर नगरी श्रीकृष्ण के रहने को निर्माण की। उसके चारों ओर मनोहर कोट बनाया गया था। उसमें बड़े-बड़े ऊँचे महल बनाये गये थे और महलों की भित्तियें सुवर्ण की बनाई गई थीं, चारों ओर नीचे उतरने और ऊपर चढ़ने को सुन्दर सीढ़ियाँ अपूर्व शोभा देती थीं। सड़कें बड़ी ही कुशलता से बनाई गई थीं। सुन्दर

जिनमन्दिर मन को मुग्ध किये देते थे। भाव यह कि उसकी सुन्दरता में किसी तरह की त्रुटि नहीं की गई थी। उसका नाम द्वारका रक्खा गया था, जब सब तरह द्वारका सज चुकी थी, तब कुबेर ने श्रीकृष्ण से नगरी में प्रवेश करने की प्रार्थना की, उसके कहे अनुसार अच्छे मुहूर्त में सत्पुरुष और अपने बन्धुओं के साथ श्रीकृष्ण ने द्वारका में प्रवेश किया। सबका भोजन पानादि से उचित सम्मान किया गया और उन्हें अच्छे-अच्छे स्थान रहने को दिये गये। जब श्रीकृष्ण सब लोगों की व्यवस्था कर चुके, तब वे स्वयं भी एक सुन्दर राजमहल में रहने लगे। राजमहल की गजशाला और वाजिशाला आदि से और भी अधिक श्री हो गई थी। बड़े-बड़े ऊँचे और मनोहर गृहों से शोभित द्वारका इतनी सुरम्य जान पड़ती थी मानों निराधार स्वर्ग का एक भाग टूटकर गिर पड़ा है। ठीक है, इन्द्र की आज्ञा से और जिन भगवान की भक्ति से जिस नगरी की रचना कुबेर के द्वारा हुई है उसका वर्णन करना एक तरह असंभव सा ही प्रतीत होता है।

श्रीकृष्ण का पहला विवाह सुकेतु विद्याधर की कन्या सत्यभामा के साथ हुआ और वही उनकी पटरानी कहलाई तथा दूसरा भीष्मराजा की पुत्री रुक्मणी से हुआ जिसे श्रीकृष्ण शिशुपाल का वध करके बलपूर्वक ले आये थे। इसके बाद क्रम से जाम्बवती, सुसीमा, पद्मावती, गौरी, गान्धारी, लक्ष्मीमती आदि सोलह हजार राजकुमारियों के साथ उनका विवाह हुआ। इनके साथ श्रीकृष्ण के दिन बहुत ही सुखपूर्वक बीतते थे। इन स्त्रियों से उत्पन्न उनके प्रद्युम्न और अनिरुद्ध आदि पुत्र के साथ श्रीकृष्ण निष्कंटक होकर राज्य करने लगे, उनका शत्रु कोई न रहा।

उन्होंने अनेक देशों को अपने आधीन किया, न्याय रहित प्रजा का शासन करने वालों को दण्ड देना और सज्जनों को सन्तुष्ट करना यह उनकी राज्यशासन पद्धति थी। इसी तरह सुखपूर्वक राज्य करते-करते श्रीकृष्ण का बहुत समय बीत गया, अब उसके आगे की घटना का उल्लेख किया जाता है।

द्वारका सारी पृथ्वी में उस समय एक ही सुन्दर नगरी थी, श्रीकृष्ण

का प्रजापालन उत्तम समझकर उसमें इधर-उधर के लोग आने लगे। एक वक्त बहुत से व्यापारी मिलकर व्यापार करने के लिए राजगृह से चलकर द्वारका आये और वहाँ से बहुत सी अच्छी-अच्छी वस्तुयें खरीदकर वापिस राजगृह आये तथा अपने महाराज से मिले। उन्हें प्रणाम कर जो वस्तुयें द्वारका से लाये थे, उन्हें महाराज को भेंट कीं, उन्हें देखकर जरासंध ने उनसे पूछा- "तुम लोग इस समय किस देश से आ रहे हो? और किन-किन देशों की तुमने इतने दिन तक यात्रा की," तब उत्तर में व्यापारियों ने कहा "हम लोग द्वारका गये थे।" जरासंघ ने फिर पूछा अच्छा यह बताओ कि द्वारका का स्वामी कौन है? उसका जन्म किस कुल में हुआ है? कितनी उसकी शक्ति है और उसके पास कितनी सेना है?" व्यापारियों ने कहा "महाराज! वहाँ हमने सुना था कि द्वारका के स्वामी का नाम श्रीकृष्ण है, उनका जन्म यादव कुल में हुआ है, उनका राज्य तीन खण्ड में है और उनने शिशुपाल का विध्वंस किया है। उनकी सेना तथा शक्ति का परिचय किसी के द्वारा दिया जाना संभव नहीं है। जरासंध ने कहा "ये यादव कौन हैं, जिनके वंश में कृष्ण उत्पन्न हुआ है?" व्यापारियों ने उत्तर दिया महाराज! देखने से तो यादव बड़े ही तेजस्वी जान पड़ते हैं, उनकी प्रसिद्धि सारी पृथ्वी में हो रही है। उनके नाम समुद्र विजय, उग्रसेन, वसुदेव आदि हैं। इनमें वसुदेव का पुत्र श्रीकृष्ण है, इसी के द्वारा कंस की मृत्यु हुई है। महाराज! श्रीकृष्ण द्वारका का निष्कण्टक राज्य करते हैं।" यह सुनते ही जरासंध का क्रोध उबल उठा, उसने कहा कि "क्या पापी यादव अभी तक पृथ्वी पर जीते हैं?" व्यापारियों ने कहा "महाराज! हाँ यादव कुल का विस्तार तो सारी पृथ्वी में हो रहा है," इतना कहकर वे लोग अपने-अपने घर चले गये।

उनके चले जाने पर जरासंध अपने मंत्रियों को बुलवाकर उनसे बोला- "यादव वंश सारी पृथ्वी में फैल रहा है, पर तुम लोगों ने तो यह हाल मुझसे अभी तक नहीं कहा," सुनकर बेचारे मंत्रियों ने कुछ सोच विचार कर कहा कि "महाराज! यादवों के होते हुए भी आपको जो उनका हाल न कहा

गया। इसका एक कारण है।" जरासंध बोला "वह क्या कारण है, जिससे शत्रुओं की सूचना मुझे न दी गई?" मंत्रियों में से किसी एक ने कहा "महाराज! बात तो यह है कि हमें अभी यादवों से शत्रुता करना उचित नहीं जान पड़ती। क्योंकि इस वक्त यादवों की दशा बहुत अच्छी है। यदि आप अभी उनसे विरोध करेंगे तो जीवन तक रहना दुर्लभ हो जायेगा और इसीलिए हम लोग आज तक चुपचाप रहे। आप भी इस विषय की चिन्ता कुछ समय के लिए छोड़ दें।" मंत्रियों की बात सुनते ही जरासंध रुष्ट होकर खड़ा हुआ और हाथ में खड्ग लेकर चलने को तैयार हो गया, बेचारे मंत्रियों ने फिर भी प्रार्थना की कि "महाराज! अविचार से काम न करें, आप नहीं जानते कि कृष्ण ऐसा वैसा साधारण पुरुष नहीं है। यदि आपको उससे युद्ध ही करना अच्छा जान पड़ता है तो पहले उसके पास दूत भेजिये," जरासंध ने किसी तरह उनके कहने को स्वीकार किया और फिर बुद्धि शेखर दूत को बुलवा कर उसे द्वारका की ओर रवाना किया। दूत द्वारका पहुँच कर द्वारपाल की आज्ञा ले सभा में गया, जहाँ श्रीकृष्ण विराजमान थे। उसने अपने स्वामी के घमण्ड में आकर कृष्ण का विनय तक भी नहीं किया, जब उसकी दृष्टि यादवों से सुसज्जित सभा में पड़ी, तो उसके देखते ही वह आश्चर्य से कर्तव्यविमूढ़ हो गया। कुछ देर ठहरकर वह कहने लगा कि "महाराज! मुझे अपने स्वामी जरासंध का कुछ सन्देशा आपसे कहना है सो उसे जरा ध्यानपूर्वक सुनिये- "मैं तुम्हारी दुर्विनीतता कहाँ तक सहन करूँ, तुमने मेरे जमाई तक को मार दिया और मेरे छोटे भाई अपराजित की भी यही हालत की। इतना होने पर भी तुम्हें इतना घमण्ड है जो जरासंध की अधीनता में रहना नहीं चाहते। तुम यह मत समझो कि हम तो समुद्र के बीच में रहते हैं, हमें किसका डर? तुम डर करके द्वारका में जाकर बसे हो, सो तुम्हारा यह डर ही तुम्हारे जीवन को निःसार कर रहा है। इसलिए आकर जरासंध की आधीनता स्वीकार करो तभी जीवन स्थिरता से बिता सकोगे? उसकी सेवा से परांगमुख होकर रहना बड़ी ही मूर्खता है।" दूत के इन वचनों से यादवों को बड़ा ही क्रोध आया उन्होंने उसी वक्त दूत को सभा से

बाहर निकलवा दिया, दूत ने आकर जरासंध से वे सब बातें कह सुनाई जो यादवों ने उससे कही थीं, सुनते ही जरासंध को बड़ा क्रोध आया, वह उसी वक्त सेना लेकर युद्ध करने को कुरुक्षेत्र की ओर चल पड़ा। उधर श्रीकृष्ण ने जब सुना कि जरासंध ससैन्य कुरुक्षेत्र में आ उपस्थित हुआ है, तब वे भी अपनी सेना लेकर युद्धभूमि में आ पहुँचे, दोनों ओर की सेनाओं में नाना तरह के युद्ध के बाजे बजने लगे, जरासंध की सेना में चक्रव्यूह की रचना की गई। उधर कृष्ण की सेना में वसुदेव ने गरुड़ध्वज रचा, दोनों व्यूह में परस्पर घोर युद्ध आरम्भ हुआ। इस युद्ध की भीषणता देखकर आकाश से देखने वाले देवता तथा दानवों को बड़ा ही चमत्कृत होना पड़ा। उस वक्त हाथियों के गर्जन का, घोड़ों के हींसने का, रथों के चीत्कारों का, पैदल सेना के बोलने का, अनेक तरह के बाजों के बजने का, भाट लोगों के जयध्वनि का और धनुष पर ज्याके चढ़ाने का इतना कोलाहल हुआ कि दिशायें शब्दमयी हो गईं, कानों से सुनना तक कठिन हो गया, हाथी-हाथियों के साथ, घोड़े-घोड़ों के साथ, रथ-रथों के साथ और पैदल सेना अपने समान वालों के साथ भंयकरता से लड़ने लगी, दोनों सेनाओं में बड़ा भारी घमासान युद्ध हुआ। जरासंध की सेना नें यादवों की सेना को तीन तेहर करना आरम्भ किया। बलभद्र ने देखा कि सेना भागी जा रही है, तब वे स्वयं उठे और जरासंध की सेना से जा भिड़े। भिड़ते ही उन्होंने अपने पराक्रम का अलौकिक परिचय दिया, उस समय जरासंध की सेना को जिधर रास्ता मिला, उधर ही वह भागने लगी, यह देख रूप्यकुमार श्री नेमिनाथ से युद्ध करने के लिए इस तरह सन्नद्ध हुआ जैसे हरिण सिंह से लड़ने की इच्छा करता है। श्री नेमिनाथ ने उद्वेग में आकर ऐसे जोर से बाण चलाये कि उनसे हजारों योद्धा देखते-देखते धाराशायी हो गये, उधर जरासंध और श्रीकृष्ण की मुठभेड़ हुई, श्रीकृष्ण ने उसकी सारी सेना तितर-बितर कर दी। अस्त्र-शस्त्र से दोनों में घोर युद्ध हुआ, परन्तु तो भी जरासंध श्रीकृष्ण को कुछ भी हानि नहीं पहुँचा सका। उस समय उसने और कुछ उपाय न देखकर श्रीकृष्ण के ऊपर चक्र चलाया, जिसे देखकर दैत्यों तक

की छाती दहल जाती थी। चक्र श्रीकृष्ण की प्रदक्षिणा देकर उल्टा उनके हाथ में आ गया, फिर श्रीकृष्ण ने उसी चक्र को अपने शत्रु के ऊपर चलाया और वह जरासंध को धराशायी करके, मारके वापिस श्रीकृष्ण के हाथ में आ उपस्थित हुआ। श्रीकृष्ण की सारी सेना में जयध्वनि होने लगी। उनकी आज्ञा का सब जगह विस्तार हुआ। श्रीकृष्ण वहीं पर जरासंध के पुत्र के लिए राज्य देकर और दिग्विजयी होते हुये द्वारका में आ गये। देखो! जो चक्ररत्न जरासंध के पास था वही अपने स्वामी को मारकर श्रीकृष्ण के हाथ में आ गया। यह सब पुण्यकर्म का फल है। इस चक्ररत्न के साथ और भी सात रत्न थे, जो श्रीकृष्ण को प्राप्त हुये। जिस समय का यह कथन है, उस समय यादवों की संख्या छप्पन करोड़ थी, वे संसार भर में प्रसिद्ध हो गये थे।

एक दिन की बात है कि बलदेव वसुदेव आदि सब यादव जब सभा में बैठे हुए थे, तब यह बात चल पड़ी कि इस वक्त सब में अधिक बलवान कौन है? तब किसी ने पाण्डवों को बताया, किसी ने वसुदेव को, किसी ने बलदेव को और किसी ने वासुदेव श्रीकृष्ण को। जब सब लोग अपना-अपना गाना गा चुके तब बलदेव कुछ हँसकर बोले "आप लोग बड़े अनभिज्ञ हैं, जो व्यर्थ औरों की झूठी स्तुति कर रहे हैं, क्या आप श्री नेमिनाथ के बल को नहीं जानते कि वे कितने बली हैं? अरे! बेचारे दीन लोग करोड़ भी हों तो उनसे क्या? पृथ्वी में एक श्री नेमिनाथ ही अनुपम पराक्रमी हैं। जहाँ भगवान विराजे हैं वहाँ और कौन अधिक बली कहा जा सकता है? क्या तुमने कभी केसरी के सामने बेचारे हरिण बलिष्ठ होते देखे हैं?" बलभद्र के द्वारा की हुई नेमिनाथ की प्रशंसा श्रीकृष्ण को सह्य नहीं हुई, उन्हें अन्तरंग में तो बहुत बुरा लगा, परन्तु ऊपर से हँसकर वे श्री नेमिनाथ से बोले "हे महाबाहो! हम लोग बड़े पराक्रमी समझे जाते हैं। परन्तु आओ, आज हम और आप कुश्ती लड़कर अपने-अपने बल की परीक्षा करें?" यह कहकर श्रीकृष्ण लंगोट बांधकर और भुजायें ठोककर नीचे उतर पड़े तथा श्री नेमिनाथ से बोले "आप भी जल्दी उतरिये।" यह देख श्री नेमिनाथ ने कहा "इतने लोगों के सामने हम लोगों का

लड़ना ठीक नहीं जान पड़ता है। लड़ने से हम लोगों में से किसी एक को अवश्य ही नीचा देखना पड़ेगा। ऐसा लड़ना तो ग्वालों को ही शोभा देता है, न कि अच्छे बलवानों को। विचारो, यदि हम में से यदि कोई गिर पड़ा तो फिर उसकी प्रतिष्ठा क्या कुछ बची रहेगी? इसलिए मैं कुछ और ही बात कहना चाहता हूँ यदि तुम अपने को बली समझते हो तो समझो इसमें कुछ हानि नहीं, किन्तु मेरे बल के साथ यदि परीक्षा करना ही तुम्हारा अभीष्ट है तो इसके लिए केवल इतनी शर्त रखी जाती है कि यदि तुम मेरे पांव को सिंहासन से हटा दोगे तो मैं सब युद्ध में तुमसे अपनी हार स्वीकार कर लूंगा।" श्री नेमिनाथ के कहते ही श्रीकृष्ण दौड़े और अपने पावों को जमीन पर मजबूत जमाकर,श्री नेमिनाथ के पावों को खूब जोर के साथ खींचने लगे, परन्तु उसे वे अपने स्थान से जरा भी हटा न सके। इस घटना से कृष्ण का मुख कुछ मुरझाया, यह देख नेमिनाथ ने कहा "खैर, यदि पांव को नहीं हटा सके तो न सही हमारे हाथ ही को नीचे की ओर झुका दो ।" श्रीकृष्ण ने उनका हाथ पकड़कर उसको नीचे झुकाने की भी बहुत कोशिश की, परन्तु वे उसे तिलमात्र भी न झुका सके, फिर भी श्री नेमिनाथ बोले "अस्तु! इसे भी जाने दो चिन्ता छोड़ो, सुनो यदि तुम हमारे बायें हाथ की अंगुली को भी अपनी शक्ति से नवा दोगे, तब भी हम तुमसे हार स्वीकार कर लेंगे। इसे तुम निश्चय समझो," श्रीकृष्ण ने अंगुली पकड़ी, पकड़ते ही नेमिनाथ उन्हें अंगुली के साथ-साथ ऊपर उठा कर झुलाने लगे। श्री नेमिनाथ की इस अपार शक्ति को देखकर आकाश में देव दुंदभि बजाने लगे। जय-जय ध्वनि से गगन मण्डल गूँज उठा, पुष्प वर्षा कर देवता भगवान की स्तुति करने लगे, "नाथ! वास्तव में आप अनन्तवीर्य हैं संसार में आपके समान और कोई बली नहीं है।" यह देख कृष्ण को बड़ा ही दुःख हुआ, उन्हें सबके सन्मुख मुख नीचा करना पड़ा। एक दिन श्रीकृष्ण ने बलभद्र से कुछ बातचीत करते-करते कहा कि नेमिनाथ बड़े बलवान हैं। संभव है कि वे कभी मेरा राज्य भी छीन लें, बतलाईये क्या उपाय करना चाहिए, जिससे राज्य सुरक्षित रह सके? कुछ

विचार करके श्रीकृष्ण ने एक ज्योतिषी को बुलवाया और उससे पूछा कि क्या श्री नेमिनाथ किसी तरह विरक्त किये जा सकते हैं? श्रीकृष्ण के आशय को समझकर ज्योतिषी ने कहा – ।हाँ एक उपाय है, वह यह कि जब नेमिनाथ को कोई हिंसा का कारण दीख पड़ेगा, तो वे नियम से विरक्त हो जावेंगे और संसार को छोड़कर दीक्षा ले लेंगे। ज्योतिषी की भविष्यवाणी सुनकर कृष्ण भी उसी तरह के उपाय की योजना की चिन्ता में लगे।

शीत ऋतु व्यतीत होकर बसन्त ऋतु का आगमन हुआ, लोगों के दिलों में आनन्द की तरंगे लहराने लगीं, स्त्रियों को काम पीड़ा पहुँचाने लगा, बेचारे विरही लोगों की हालत भी बुरी होने लगी, जो स्त्रियाँ मानिनी थीं उनका मानभंग हुआ, आम्र के वृक्षों पर प्यारे मौर आ गये, कोकिलाओं की सुन्दर कण्ठ ध्वनि होने लगी, वनों में किंशुक के लाल-लाल फूलों ने विलक्षण सौन्दर्य ला दिया, ऐसा मालूम होता था कि मानो वन लोगों की विरहाग्नि से सन्तप्त हो उठा हो। चम्पक और पाटल पुष्पों से सारा वन विकसित हो उठा, सरोवरों की कमलों ने शोभा बढ़ा दी, थोड़े में यों कहिए कि जितनी पुष्प जातियाँ थीं, वे सब विकसित होकर बसन्त की शोभा बढ़ाने लगीं। इन सुखद दिनों में श्रीकृष्ण अपनी प्रियाओं को साथ लेकर वनक्रीड़ा करने को गये। साथ में उन्होंने नेमिनाथ को भी ले लिया, वन में श्रीकृष्ण के सेवकों ने पहले ही पहुँचकर केशर और चन्दनादि सुगन्धित वस्तुओं से छोटी-छोटी बावड़ियाँ भर दी थीं। चारों ओर खूब फूल इकट्ठे किये गये थे, जिन्हें देखते ही स्त्रियों के मन में काम का वेग उमड़ आता था। श्रीकृष्ण नेमिनाथ को साथ लिये हुए वहीं पहुँचे और जलक्रीड़ा करने लगे, कृष्ण की स्त्रियाँ उनके ऊपर बार-बार जल उलीचने लगीं और भी नाना तरह से जैसा उन्हें सूझा वे कृष्ण के साथ खेलने लगीं। कृष्ण भी जैसी-जैसी उनकी उत्कण्ठा होती थी, उसे पूरी करते जाते थे, खेलते-खेलते उन्होंने बसन्त के गीत गाना शुरू किये जिनके सुनने से पुरुषों का मन मुग्ध हो जाता था। इसी तरह देर तक खेल खिलाकर श्रीकृष्ण तो जल के बाहर निकलकर कहीं चले गये और अपनी स्त्रियों को

इशारे से बतलाते गये कि नेमिनाथ के चित्त को जिस तरह हो सांसारिक वासनाओं की ओर आकर्षित करना, तदनुसार कृष्ण के जाते ही उन्होंने नेमिनाथ के साथ खेलना आरंभ किया। नाना तरह की वे उनसे हँसी करने लगीं, केशर डालने लगीं, पिचकारी मारने लगीं और इस सम्बन्ध में कि तुम विवाह क्यों नहीं करते हो, बड़े-बड़े ताने मारने लगीं, क्रीड़ा समाप्त हो जाने पर सब स्त्रियाँ जल से बाहर निकलीं, नेमिनाथ भी बाहर आये और अपने गीले वस्त्र को अलग करे जाम्बवती से बोले "हमारे वस्त्र को निचोड़ दो, हमें घर जाना है सो जल्दी करो।" जाम्बवती सुनकर बहुत रुष्ट हुई और बोली "यह काम अपनी स्त्री से करवाइये, मुझसे यह नहीं हो सकता। तुम जानते हो जो सुदर्शन चक्र चला सकता हो, नागशय्या पर सोने की जिसमें शक्ति हो, जो पांचजन्य शंख पूर सकता हो ,जो सारंग धनुष्य पर ज्या चढ़ा सके वही मुझे ऐसी आज्ञा दे सकता है न कि तुम सरीखे शक्तिहीन पुरुष। इसलिए दूसरों का काम मैं नहीं कर सकती," जाम्बवती की इस उद्धतता से नेमिनाथ के दिल में बहुत दुःख पहुँचा, वे वहाँ से चलकर कृष्ण की युद्धशाला में पहुँचे और वहाँ ताल ठोककर उन्होंने सुदर्शन चक्र को पांव के अंगूठे से घुमाया, नाग शय्या पर शयन किया, धनुष पर ज्या चढ़ाई और शंख को नासिका के छिद्र से पूरा। शंख का शब्द होते ही लोगों को प्रलयकाल की संभावना होने लगी। कृष्ण एकदम घबराकर बोले यह क्या? कोई दैत्य तो नहीं आ गया? किसी ने कृष्ण को जाकर यह सब हाल सुना दिया और कहा नेमिनाथ ने तुम्हारी भार्या पर रुष्ट होकर यह सब लीला की है। श्रीकृष्ण उसी वक्त युद्धशाला में आये और ऊपर से कुछ हँसकर भाई नेमिनाथ से बोले "विभो! आपके जरा से क्रोध से बेचारे साँप मरे जाते हैं, इसलिए केवल स्त्रियों के वचनों पर आपको ऐसा करना उचित नहीं जान पड़ता। आपके बल का परिचय तो मैंने पहले ही पा लिया था, अब उसके विशेष परिचय की जरूरत नहीं है। आप क्रोध छोड़ें, क्योंकि यह उत्तम पुरुषों के द्वारा आदरणीय नहीं है।" भगवान को सन्तुष्ट कर श्रीकृष्ण उनसे मिले और बाद में उन्हें अपने साथ घर पर लिवा ले गये।

वहीं दोनों ने भोजन किया, भोजन करने के बाद श्रीकृष्ण शिवादेवी के पास पहुँचे और कहने लगे कि "माता! भगवान अब युवा हो गये हैं, उनका विवाह होना चाहिए। शिवादेवी ने श्रीकृष्ण से कहा "कृष्ण! तुम हमारे घर के अधिकारी हो और तुम्हीं सब कामकाज के करने वाले हो, इसलिए नेमिनाथ के विवाह की कोशिश तुम्हें ही करनी चाहिए। जो काम तुम करोगे, वह सबको मान्य होगा। सो विचारक कर जो कर्तव्य है, उसे अपनी इच्छानुसार करो।" शिवादेवी की सम्मति लेकर श्रीकृष्ण बलभद्र को साथ लेकर उग्रसेन की नगरी में पहुँचे। उग्रसेन ने इनका बहुत आदर सत्कार किया, उग्रसेन के इस आदर से ये बहुत ही सन्तुष्ट हुए, थोड़ी देर तक कुछ बातचीत होने के बाद श्रीकृष्ण ने नेमिनाथ के साथ राजकुमारी राजुल के विवाह की बात छेड़ी। उग्रसेन ने श्रीकृष्ण का कहना स्वीकार कर अपनी पुत्री का विवाह नेमिनाथ से करना निश्चित कर दिया। श्रीकृष्ण वहीं पर लग्न वगैरह का ठीक निश्चय कर घर पर आये। इतनी बात और भी ध्यान में रखनी चाहिये कि श्रीकृष्ण जूनागढ़ में कुछ जीव वध के विषय की भी गुप्तमंत्रणा कर आये थे। इतने में वर्षाकाल आ गया, उन्हीं दिनों में नेमिनाथ के विवाह का काम चलाया गया, सगे सम्बन्धी जन निमंत्रण पत्र भेजकर बुलवाये गये, उग्रसेन के यहाँ भी निमंत्रण भेजा गया। उसने बहुत से लोगों को द्वारका भेजा। आये हुए अतिथियों का भोजनादि से खूब सम्मान किया जाने लगा। कुछ दिनों बाद द्वारका से बारात विदा हुई। रथ बहुत सुन्दरता के साथ सजाया गया था। उसी में भगवान नेमिनाथ खूब आभूषणों से विभूषित करके बैठाये गये थे और भी रथ, हाथी, घोड़े तथा पैदल सेना आदि बहुत कुछ राज्य विभव साथ में लिया गया था। अनेक तरह के बाजों से आकाश और पृथ्वी शब्दमय हो गई थी। श्रीकृष्ण याचक लोगों को दान देते हुए द्वारका से बाहर निकले। बारात का आगमन समाचार सुनकर राजमती राजुल ने अपने को अलंकारादि से खूब अलंकृत किया। भगवान तोरण के पास आये ही थे कि इतने में उनके कानों में पशुओं का बिलबिलाना सुन पड़ा। भगवान ने सारथी से पूछा "ये पशु क्यों बिलबिला

रहे हैं और क्यों इकट्ठे किये गये हैं? इनके करुणाजनक शब्दों से हृदय बड़ा ही विकल हुए जाता है।" सारथी ने कहा- "नाथ! ये पशु आपके विवाह के लिए एकत्रित किये गये हैं, आज ही यादवों के लिए इनका वध होगा। इन सब पशुओं को महाराज ने एकत्रित करवाये हैं," सारथी के वचन सुनते ही भगवान को अनाथ पशुओं के ऊपर बड़ी ही दया आई, वे उसी समय लोगों के देखते-देखते रथ को लौटा ले गये। रथ को लौटाकर ले जाने पर लोगों में हाहाकार मच गया, उग्रसेन को बड़ा दुख हुआ, उधर राजकुमारी ने जब यह चर्चा सुनी, तब वह भी अधीर हो उठी और बड़ी दीनता से रोती हुई भगवान के पीछे-पीछे हो चली। लोगों ने भगवान को रोकने के लिए बहुत कुछ उपाय किया परन्तु वे किसी तरह न रुके। लोगों ने उनसे वापिस लौटने का कारण पूछा, भगवान बोले- "पहले आप यह बतावें कि ये बेचारे निरपराध जीव क्यों मारे जाते हैं? विवाह का यह घोर फल तो मैंने पहिले ही देख लिया और आगे नहीं कहा जा सकता कि क्या-क्या अनर्थ देखने पड़ेंगे?" लोगों ने यह सब दोष श्रीकृष्ण के ऊपर ही मढ़ा। इस अपवाद को सुनकर श्रीकृष्ण भगवान से बोल-"नाथ! यह असह्य लोकापवाद जो मेरे ऊपर लगा है उसका हटाना आप ही के हाथ है, मेरे ऊपर दया करके जो काम आपने विचारा है, उसे पूर्ण कीजिए," श्रीकृष्ण ने भगवान श्री नेमिनाथ से बहुत कुछ प्रार्थना की परन्तु श्री नेमिनाथ ने फिर विवाह करना स्वीकार नहीं किया। वे श्रीकृष्ण को किसी तरह सन्तोष देकर और पशुओं को छुड़ाकर गिरनार पर्वत पर जा पहुँचे। उस समय लौकान्तिक देवों ने भी आकर और भगवान के वैराग्य की प्रशंसा कर अपना नियोग पूरा किया। पश्चात् भगवान को पालकी में बैठाकर उन्हें वे गिरनार पर्वत के सहस्राम्रवन में लिवा ले गये, भगवान ने सब वस्त्राभरणों का परित्याग कर अपने सिर के कशों का लौंच किया, केशों को ले जाकर इन्द्र ने क्षीर समुद्र में डाल दिये। पश्चात् भगवान ने बाह्य और अन्तंरग परिग्रह का त्याग कर और सिद्ध भगवान को नमस्कार कर पावन जिनदीक्षा स्वीकार की। उस समय सब देव आये और भगवान का दीक्षोत्सव करके अपने-अपने

स्थान पर चले गये। भगवान के साथ-साथ और भी एक हजार राजाओं ने दीक्षा ली। दीक्षा लेकर भगवान दो दिन तक ध्यान में लीन रहे, बाद में तीसरे दिन हरीपुर में धनदत्त सेठ के यहाँ भगवान का पारणा हुआ। छप्पन दिन के बाद ध्यान वह्नि से चार घातिया कर्मों का नाश करके भगवान केवलज्ञानी हो गये। उस दिन आश्विन शुक्ल प्रतिपदा और प्रातःकाल का समय था। केवलज्ञान होते ही इन्द्र ने आकर गिरनार पर्वत पर बारह कोठों से सुसज्जित समवशरण रचा। उसमें डेढ़ योजन चौड़ा और तीन कोटों से सुशोभित देदीप्यमान भद्रपीठ, मानस्तंभ, सुन्दर-सुन्दर सरोवर, खाई, पुष्पवाड़ी, नाट्यशाला, वेदिका, ध्वजा और स्तूप आदि और भी बहुत सी मनोहर वस्तुयें बनाईं। भगवान सिंहासन पर विराजे, देवता उनके ऊपर चमर डुलाने लगे। भगवान के ग्यारह गणधर हुए, जब द्वारका में भगवान के केवलज्ञान की चर्चा फैली, तो श्रीकृष्ण आदि सभी द्वारका के लोग भगवान के दर्शन करने आये और उनके साथ-साथ बहुत सी स्त्रियाँ भी आईं और भगवान का उपदेश सुनकर राजुल आदि बहुत सी स्त्रियों ने आर्यिका के व्रत की दीक्षा ली।

भगवान ने दशलक्षण गर्भित गृहस्थ धर्म तथा मुनिधर्म का उपदेश दिया और कितने भव्य पुरुषों को सुमार्ग की ओर लगाकर वे दूसरे देशों में विहार कर गये, जब उनके विहार के समाचार श्रीकृष्ण ने सुने, तो अपने भाईयों को समझा बुझाकर भगवान के पास लाये और उन्हें जिन दीक्षा दिलवा दी।

भगवान और देशों में विहार कर पीछे गिरनार पर्वत पर आये, इन्द्र ने समवशरण रचा, भगवान के आने के समाचार सुनकर द्वारका के सब लोग उनके दर्शन को आये, स्त्रियों के साथ वसुदेव की स्त्री देवकी भी भगवान के दर्शन करने को आईं और उनकी पूजा कर धर्मोपदेश के बाद उसने भगवान से पूछा-"नाथ! दिगम्बर मुनि एक दिन में दो वक्त आहार ले सकते हैं या नहीं?" भगवान ने कहा "दिगम्बर मुनि एक दिन में दो वक्त आहार नहीं कर सकते।" तब फिर देवकी ने कहा कि "नहीं कहा जा सकता कि वास्तव में बात क्या है?

मेरे घर पर आज एक ही सरीखे-सरीखे युगल मुनिराज तीन बार आहार करने आय," भगवान बोले "यह तेरा भ्रम है, जो मुनि आहार के लिए तीन वक्त आये हैं वे सब दूसरे ही हैं, परन्तु बात यह है कि वे छहों तेरे ही पुत्र हैं।" यह सुनकर देवकी का सन्देह दूर हुआ, वह पुत्र प्रेम से विह्वल होकर उसी सयम उन मुनियों के पास गई और उनके चरणों में गिर कर नेत्रों से हर्षाश्रुओं की धारा बहाने लगी। इस घटना का हाल जब अन्य लोगों ने सुना, तो उन्हें भी संसार की लीला देखकर बड़ा ही वैराग्य हुआ। अनेक भव्यों ने तो उसी समय जिनदीक्षा स्वीकार कर ली, अनेक ने अणुव्रत धारण किये, कितनों ने केवल सम्यक्त्व ग्रहण किया और कितनों ने भगवान की पूजा करने की ही प्रतिज्ञा ली। आठों स्त्रियों ने भी अपने-अपने पुण्य पाप की कथा पूछी। भगवान ने सभी के प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर दे दिया। इसके बाद बलदेव ने भी भगवान से तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र, वासुदेव और प्रतिवासुदेव आदि के उत्पन्न होने की बात पूंछी, अर्थात् इतने ऊँचे-ऊँचे पद कैसे मिल सकते हैं? भगवान ने सबका खुलासा वृतान्त कह सुनाया, वहीं पर गजकुमार भी बैठा-बैठा यह सब हाल सुन रहा था। सुनकर उसे संसार से बड़ा वैराग्य हुआ, वह उसी समय वन में गया और जिनदीक्षा लेकर कठिन से कठिन तपश्चर्या करने लगा। उसने बड़े ही धैर्य के साथ भयंकर उपसर्ग सहे। अन्त में वह कर्मों का नाश कर अविनश्वर सुख के भवन मोक्ष में जा बसा।

बलदेव ने कुछ भविष्य की बातें जानने की इच्छा से भगवान से पूछा कि "स्वामी! जो संसार में जन्म लेते हैं उनकी मृत्यु अवश्यम्भावी है और यही आपके शासन में भी उपदिष्ट है। फिर कृपा कर यह बताइये कि श्रीकृष्ण की मृत्यु किस तरह होगी? और द्वारका का ध्वंस किसके द्वारा तथा किस कारण से होगा?" भगवान ने कहा- "बलदेव! तुम्हारा पूछना ठीक है, परन्तु जो बातें नियम से हुआ करती हैं उन्हें मैं ही क्या कहूँगा। बलदेव बोले-नाथ! आप जो कहते हैं वह वास्तव में ठीक है तो भी आपको कुछ कहना चाहिए। कारण जीवों को भविष्य के जानने की बड़ी उत्कण्ठा हुआ करती है।" बलदेव का

अधिक आग्रह देखकर भगवान ने कहा-"बलदेव! सुनो द्वारका का नाश द्वीपायन मुनि और मदिरा के निमित्त से होगा। इसकी अवधि आज से लेकर बारह वर्ष है और श्रीकृष्ण की मृत्यु जरत्कुमार के द्वारा होगी।" बलदेव ने भगवान का कहना सुना और श्रीकृष्ण के पास जाकर उनसे सब हाल सुनाया। सुनकर श्रीकृष्ण ने उसी समय सारे शहर में यह घोषणा दिलवा दी कि "जो आज से मेरे राज्य में मदिरापान करेगा, वह राजद्रोही समझा जाकर उचित दण्ड का पात्र होगा और जिन-जिन के यहाँ मदिरा बनाने के बर्तन तथा और कुछ इसकी सामग्री हो, उसे वे शहर से बाहर ले जाकर पर्वत की गुफाओं में डाल आवें।" श्रीकृष्ण की आज्ञा होते ही सब लोग मदिरा के निष्पत्र करने की सामग्री को पर्वतों की गुफाओं में फैंक आये। श्रीकृष्ण ने प्रजा से एक बात और कही वह यह थी कि "इस समय जिस किसी को जिनदीक्षा लेनी हो, वह खुशी के साथ ग्रहण करे। मेरा कुटुम्बी होने पर भी इस समय मैं उसे जिनदीक्षा ग्रहण करने से नहीं रोकूँगा।" श्रीकृष्ण की इस हितकर आज्ञा से प्रजा को बहुत आनन्द हुआ। यह हाल देख श्रीकृष्ण की आठों स्त्रियों ने, प्रद्युम्न कुमार ने और भानुकुमार ने विलम्ब न कर, जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। उधर जब जरत्कुमार को यह बात जान पड़ी तो वह भी अपने कुटुम्ब के लोगों को किसी तरह समझा कर कहीं चल दिया और शिकारी का वेष बनाकर वन में गुप्तरीति से रहने लगा। जब द्वीपायन के कानों में इस घटना का हाल सुन पड़ा तब वे भी द्वारका से बहुत दूर जाकर दूसरे देश में रहने लगे। ग्रन्थकार कहते हैं कि इन लोगों की बुद्धि पर खेद होता है जो इन उपायों से भगवान के वचन को झूठा करना चाहते हैं। अर्थात् ये लोग कुछ भी क्यों न करें परन्तु जो भगवान ने कहा है वह नियम से होवेगा ही क्योंकि-

नान्यथा वादिनो जिनाः।

अर्थात्- जिन भगवान झूठ नहीं बोलते हैं।

बहुत समय बीत चुका, एक दिन यादव वन में क्रीड़ा करने को गये, क्रीड़ा करते-करते वे थक गये, प्यास ने उन्हें बहुत सताया। परन्तु कहीं जल

का पता नहीं, वन में खोज करते-करते उन्हें पुरानी, बहुत दिनों की मदिरा का भरा हुआ एक गड्ढा मिल गया, गड्ढे की मदिरा वर्षा समय का भरा हुआ जल के गिरने से ताजी सी हो गई थी। यादवों ने उसे जल समझ कर पी ली, पीकर वे बहुत खुश हुए वे लोग वन से घर पर आ रहे थे कि रास्ते में ही उन्हें मदिरा का नशा चढ़ आया, नशा इतने जोर से चढ़ा कि वे उन्मत होकर नाना तरह की कुचेष्टायें करने लगे, वे इसी हालत में द्वारका के पास पहुँचे। वहाँ उन्हें ध्यान में बैठे हुए द्वीपायन मुनि दीख पड़े। द्वीपायन द्वारका के लोगों को शुभ समाचार सुनाने आये थे कि "जिन भगवान ने जो मेरे द्वारा द्वारका का ध्वंस होना बतलाया था और उसकी अवधि बारह वर्ष की बतलाई थी, वह अब बीत चुकी और द्वारका की कुछ भी हानि नहीं हुई।" उन्हें देखकर यादवों को द्वीपायन के द्वारा द्वारका दहन की बात याद हो आई। इससे रुष्ट होकर उन्हें वे पत्थरों से मारने लगे। यह कहा जाता है कि नशे के निमित्त से पूर्व की बातों की जल्दी स्मृति हो आती है। पत्थरों की मार से मुनि का सारा सिर फट गया। उससे रुधिर की धारा बहने लगी, यद्यपि मुनि को बहुत भारी वेदना सहनी पड़ी, परन्तु तब भी वे क्रोधित न हुये और ध्यान में उसी तरह निश्चल बैठे रहे। परन्तु जब पापी यादवों ने मुनि के सिर पर भंगी से पेशाब करवाई, तब उनसे यह अपमान न सहा गया, क्रोध से उनके नेत्र लाल हो गये, वे उसी समय मूर्छा खाकर पृथ्वी पर गिर पडे, उनके प्राणों के निकलने में कुछ ही देर थी कि इतने में किसी ने जाकर यह सब घटना श्रीकृष्ण से कह सुनाई। सुनते ही बलदेव और श्रीकृष्ण उसी वक्त मुनि के पास दौड़े आये और हाथ जोड़कर उनसे प्रार्थना करने लगे कि "प्रभो! आप जीवों के परिपालक हैं और दयालु हैं। आपका इन मूर्ख बालकों ने बहुत भारी अपमान किया है। उसे आप क्षमा करें, भगवान आपकी दया संसार भर में प्रसिद्ध है उससे जब स्थावर जीवों तक को बाधा नहीं पहुँच सकती तब उसी के द्वारा औरों की रक्षा होना तो सहज है। आप महात्मा हैं, क्रोध करना आपको उचित नहीं जान पड़ता। यह आप खूब अच्छी तरह जानते हैं कि क्रोधियों की दुर्गति होती है। उन्हें

कठिन से कठिन दुःख भोगने पड़ते हैं। उसमें भी साधुओं के लिए तो क्रोध करना बड़ा ही निंद्य समझा गया है। हमारी प्रार्थना पर आप ध्यान दें और इस चाण्डाल क्रोध के स्पर्श तक का परित्याग करें। द्वीपायन मुनि बहुत समझाये गये, परन्तु फिर भी उनका क्रोध शान्त नहीं हुआ, हो कैसे? उन्हें तो दुर्गति में जाना था। उन्हें द्वारका से कहीं अन्यत्र चले जाने के लिए कहा गया, परन्तु इसे भी उन्होंने न माना, सच है जिन्हें क्रोधरूपी सर्प डस लेता है फिर उनकी हालत सुधरना असंभव हो जाती है। द्वीपायन मुनि ने श्रीकृष्ण से इशारे से शहर में जाने को कह दिया। लाचार होकर वे शहर में चले गये। जाकर ही उन्होंने शहर में यह घोषण दिलवा दी कि जिन्हें अपना जीवन प्यारा हो, वे इसी समय यहाँ से निकल कर दूसरे देश में चले जावें। घोषणा के सुनते ही शम्बुकुमार आदि बहुतों ने गिरनार पर्वत पर जाकर भगवान से जिनदीक्षा ग्रहण कर ली।

उधर द्वीपायन के प्राणों के निकलने की तैयारी हो ही रही थी सो वे मर कर अग्निकुमार देव हुए। अवधिज्ञान से यादवों के द्वारा किये हुए दुराचार को याद कर वे उसी समय द्वारका में आये और उसके चारों ओर अग्नि लगाकर लोगों से बोले कि द्वीपायन मुनि अब यहाँ से पक्षी तक को भी निकलने न देगा, फिर तुम्हारी तो बात ही क्या है? श्रीकृष्ण को जब इस भयंकरता की खबर लगी तो वे झट से बलदेव के पास आये और उन्हें अपने साथ लेकर अपने माता-पिता को द्वारका के बाहर निकालने की कोशिश करने लगे। उन्हें रथ में बैठाकर द्वारिका से बाहर निकलने के दरवाजे पर पहुँचे। जाकर देखते हैं तो दरवाजे के किवाड़ बन्द हैं। वहाँ से दूसरे दरवाजे की ओर गये तो उसके भी किवाड़ बन्द मिले। यह देखकर अग्निकुमार ने श्रीकृष्ण से कहा "श्रीकृष्ण तुम व्यर्थ ही खेद उठा रहे हो, सारी द्वारिका में केवल तुम और बलदेव ही बच सकोगे और कोई नहीं बचेगा। यह निश्चय समझो," अग्निकुमार की यह बात सुनकर बलदेव दौड़े हुए समुद्र पर पहुँचे और अपने हल के द्वारा जमीन खोदकर जल का नाला वहाँ लाये। परन्तु फिर भी कुछ

फल नहीं निकला। पाप के फल से वह जल भी तेलरूप हो गया, ठीक है जब दैव ही प्रतिकूल हो जाता है तब न तो पाण्डित्य काम आता है और न शूरता ही।

श्रीकृष्ण के माता-पिता ने पुत्र के द्वारा अपना बचना कठिन समझ कर चारों प्रकार के आहार का परित्याग कर दिया और जिन धर्म के धारण करने में जी लगाया। उसी प्रताप से वे अन्त में मरकर स्वर्ग में देव हुये। देखते-देखते द्वारिका भस्म हो गई, सारी नगरी में श्रीकृष्ण और बलदेव ही बचे, इस घटना से दोनों बहुत ही दुःखी हुए। दुःख का उद्वेग बहुत बढ़ा, अन्त में वे उसे सह न सके, दोनों मिलकर रोने लगे, कुछ देर बाद जब हृदय शान्त हुआ, तब वहाँ से रवाना होकर कौशाम्बी के बाहर वन में पहुँचे। कृष्ण को प्यास ने बहुत सताया। उन्होंने बलदेव से जल लाने के लिए कहा- बलदेव श्रीकृष्ण को वहीं पर किसी वृक्ष के नीचे बैठाकर आप जल लाने के लिए चले गये। वे बहुत दूर तक गये भी, परन्तु उन्हें कहीं जल का नाम निशान भी नहीं मिला और आगे बढ़े, कुछ दूर जाने पर एक तालाब उन्हें दीख पड़ा। वहाँ पहुँचे और कमल पत्र का पात्र बनाकर उसमें जल भर कर लाने लगे।

उनके जल लेने को चले जाने के बाद इधर जो श्रीकृष्ण के ऊपर बीती, उसे भी सुनिये बलदेव जल लाने के लिए रवाना हुये और श्रीकृष्ण वृक्ष की ठंडी छाया में लेट गये। उन्हें निद्रा ने धर दबाया, अकस्मात् उधर ही जरत्कुमार आ निकला, उसने श्रीकृष्ण के पांव में कमल के चिन्ह को देखकर समझा कि यह हरिण सो रहा है और जो यह चमक रहा है, वह उसका नेत्र है। उसने बाण धनुष पर चढ़ाया और निशान लगाकर झट से मार दिया। शर के लगते ही श्रीकृष्ण चिल्ला उठे और बोले कि "हाय! किसी दुराचारी पापी ने यह शर मारा है? निर्जन वन में मुझ अकेले को मारकर उसने क्या लाभ उठाया? हाय मैं मारा गया।" उनके रोने की आवाज सुनकर जरत्कुमार दौड़ा आया, देखता है तो श्रीकृष्ण सिसक रहे हैं। उससे यह घटना न देखी गई, सो मूर्च्छित होकर वह पृथ्वी पर गिर पड़ा। मूर्छा टूटने पर रो-रो कर कहने लगा

कि "हाय! तात! यह क्या अनर्थ हो गया? मैं आप ही के उद्देश्य से तो द्वारका छोड़कर वन में रहने लगा था। हाय! यहाँ भी पापी दैव ने मुझे अपराधी बना ही दिया। हाय! मैं क्या करूँ! कहाँ जाऊँ, मुझ सरीखा दुष्कर्मी कौन होगा?" सच है पहले किये हुए कर्म नियम से भोगने पड़ते हैं। जरत्कुमार ने बहुत पश्चाताप किया और अपने अधम कर्म को धिक्कारा, भाई से क्षमा करवाने को वह उनके पैरों में गिर पड़ा। श्रीकृष्ण ने उसे दोषी होने पर भी क्षमा किया और अपना भाई समझ वे उसके गले लग गये। बाद में उन्होंने जरत्कुमार से कहा कि "भाई! यह तो निश्चय है कि जीव को अपने किये हुए कर्म अवश्य ही भोगने पड़ते हैं।" अस्तु, इसका अब तुम दुःख न करो, जो होना था वह हो चुका है अब उसका शोक करना व्यर्थ है। मेरा कहना सुनो, "अब तुम यहाँ से जल्दी चले जाओ। क्योंकि बलदेव जल लेकर रास्ते में आते ही होंगे। वे मेरी यह हालत देखकर तुम्हें नियम से मार डालेंगे। "जरत्कुमार बोला- "नाथ! अब मुझे जीकर ही क्या करना है? मैं तो अपने प्राण यहीं पर दे दूँगा।" फिर श्रीकृष्ण ने कहा "यह तुम्हारी भूल है, जो ऐसा विचार करते हो तुम जाओ, क्योंकि तुम्हारे जीवित रहने से ही कुल की रक्षा हो सकेगी। तुम्हें कुल की रक्षा करनी चाहिए। तुम दक्षिण दिशा की ओर जाना। उधर तुम्हें पाण्डव भी मिल जावेंगे, उन्हें यह सब हाल सुना देना, शायद वे तुम्हारे कथन का विश्वास न करें, इसलिए यह मेरा कौस्तुभमणि साथ लिये जाओ। इसे दिखा देने पर उन्हें निश्चय हो जायेगा।" जरत्कुमार श्रीकृष्ण के कहे अनुसार कौस्तुभमणि लेकर पाण्डवों के पास गया और जो हाल हुआ था, उसे उसने जैसा का तैसा कह सुनाया।

उधर श्रीकृष्ण ने परलोकयात्रा की, इतने में ही बलदेव भी जल लेकर आ गये, श्रीकृष्ण को मृत्यु शय्या पर पड़े हुए देखकर एकदम हताश हो गये। उन्हें बहुत दुःख हुआ, जब उन्होंने उनके पैर की ओर देखा तो पैर में उन्हें एक बड़ा भारी घाव दीख पड़ा। देखकर उन्होंने समझा कि "किसी दुष्ट ने शर के द्वारा इनके प्राण लिये हैं।" श्रीकृष्ण की यह अवस्था उनसे अधिक देर तक

नहीं देखी गई। वे मुक्तकण्ठ होकर रोने लगे और कहने लगे कि "प्यारे! उठते क्यों नहीं? सोते-सोते बहुत देर हो गई। देखो मैं कब से जल लेकर आ गया हूँ यह जल लो और पीकर अपनी तृषा को शान्त करो। यदि तुम जल न पीओगे, तो मैं ही फिर क्यों पी सकूँगा।" इसी तरह बहुत देर तक रोते रहे, उनके रोने से भी जब श्रीकृष्ण की यही हालत रही तब वे उन्हें अपने कंधे पर रखकर वन में घूमने लगे। कभी वे उन्हें सुलाते और उनके साथ आप सोते। कभी गोद में ही सुलाये रहते। कभी बोलते और कभी उनसे हँसी करते। श्रीकृष्ण के शोक से उनकी पागल जैसी हालत हो गई। सिंह की तरह वन में निर्भय होकर वे रहने लगे। जरत्कुमार पाण्डवों के पास पहुँचा, उसके यादवों के ध्वंस की कथा आदि से लेकर अन्त तक ज्यों की त्यों पाण्डवों से कह सुनाई। सुनकर पाण्डवों को भी बहुत दुःख हुआ, यादवों का असह्य शोक उनके हृदय में लहरें लेने लगा। देव का दुर्विपाक बड़ा ही विचित्र है। किसी तरह चित्त में धीरता धारण की, अशौच मिटाने के लिए स्नान करने को गये।

पाण्डवों ने जरत्कुमार को अपने ही पास रक्खा और कुछ दिन बीत जाने पर उसका विवाह भी कर दिया। वर्षाकाल वहीं पर व्यतीत करके पाण्डव जरत्कुमार को साथ लिये हुए निकले और चारों ओर पृथ्वी में घूमते हुए वहीं पहुँच गये, जहाँ श्रीकृष्ण को लिए बलभद्र रहा करते थे। बलदेव को श्रीकृष्ण के शव को लिए हुए देखकर वे बहुत दुःखी हुए। वे सब उनके पास जाकर बैठ गये, उन्हें देखकर बलदेव ने समझा कि कोई बड़ी भारी सेना लेकर मुझसे लड़ने को आया है सो आप भी उनसे युद्ध करने को खड़े हो गये। पाण्डवों ने यह देख जान लिया कि अभी बलदेव अपने आपे में नहीं हैं सो झट से दौड़कर वे उनके पावों में गिर पड़े। उन्होंने बलदेव को बहुत कुछ दिलासा दी और श्रीकृष्ण के शव का संस्कार करने को कहा। परन्तु बलदेव ने बिल्कुल ही हाँ न भरी और उल्टे वे शव को उठाकर चल दिये। यह देख एक देव सारथी का वेष धारण कर उनके समझाने को आया। उसने जमीन पर कमल बोये और उन्हें जल से सींचने लगा, बर्तन में जल भर उसे मथने लगा, बालू रेत लेकर उसे

पेलने लगा और गाय के शंगों को दोहने लगा। जब इतने पर भी बलदेव की बुद्धि ठिकाने पर नहीं आई तब उसने पहले तो रथ को बड़े-बड़े विषम पर्वतों पर चढ़ाया और पीछे जमीन पर उतारकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले, यह देख बलदेव उसकी मूर्खता पर हँस पड़े और बोले "तू बड़ा ही मूर्ख है। भला बता तो, पहले तो रथ को बड़ी भारी कठिनता से पर्वत पर ले गया और पीछे उसे नीचे लाया, नीचे लाकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये, इससे तू ने लाभ क्या उठाया?" देव ने उत्तर में कहा "पहले अपनी ओर तो देखो, फिर मुझे मूर्ख कहना, जरा स्वयं भी तो विचार करो कि जब श्रीकृष्ण युद्ध में मरे नहीं थे, तब तो उन्हें तुमने मरे हुए समझ लिये थे और अब जो वन में सोते हुए को जरत्कुमार ने शर से मार दिये, सो कहते हो कि अभी मरे नहीं हैं। तुम बड़े हो, इसलिए मूर्खता का काम करते हुए भी मूर्ख नहीं और मैं मूर्ख हो गया? क्या इसे ही बुद्धिमानी कहते हैं, जो अपना दोष तो न देखना और दूसरे के दोष देखकर झट से उसे दोषी कहने लगना? यह सर्वथा अनुचित है," सुनते ही बलदेव की बुद्धि ठिकाने आई वे उसी वक्त श्रीकृष्ण के शव को पर्वत पर ले गये और उसका उन्होंने अग्नि संस्कार कर दिया। संसार की नश्वर लीला देख उन्हें भी बहुत वैराग्य हुआ, सो उसी वक्त भगवान के पास जाकर उन्होंने जिनदीक्षा ग्रहण कर ली और वे कठिन से कठिन तपश्चरण करके स्वर्ग में देव हो गये। इधर पाण्डवों ने भी श्री नेमिनाथ भगवान के समवशरण में जाकर उनके चरण कमलों के समक्ष जिनदीक्षा स्वीकार की।

भाईयों! विचार करो, यादवों ने केवल भ्रम से मदिरा पी थी, तब भी उनकी यह हालत हो गई, फिर जो जान-बूझकर पीने वाले हैं उनकी क्या दशा होगी? शराब दिखने में बहुत बुरी है, इसके पीने वालों की जो बुरी गति होती है, उसके जानते हुए भी यह नहीं छोड़ी जाती, इसका बड़ा खेद है। मदिरा पीने वालों के लिए परलोक में नरक जाना बताया गया है। नरक में जो दुःख भोगने पड़ते हैं उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। मद्य पीने से तो दुःख नियम से उठाने ही पड़ते हैं, परन्तु जो पुरुष मद्य पीने वालों की संगति

करते हैं, उन्हें भी दुःख उठाने पड़ते हैं। शराब अपवित्र होती है, वस्तुओं के सड़ाने से बनती है। फिर भी उसे पीकर जो लोग अपने को पवित्र कहते हैं, यह आश्चर्य है। मदिरा पीने से लाभ कुछ नहीं होता। उससे बहुत से शारीरिक और मानसिक कष्ट सहने पड़ते हैं। मदिरा पान ही से यादवों का सर्वनाश हुआ। द्वारका खाक में मिल गई, यह प्रसिद्ध है। इसलिए सभी को मदिरा पीना छोड़ देना चाहिए, आत्मा का भला बुरी बातों के छोड़ने से ही होता है।

मदिरा पीने से दोनों लोक बिगड़ते हैं, बहुत बड़े-बड़े कष्ट सहने पड़ते हैं। इसलिए कुलीन पुरुषों को कभी इसका स्पर्श भी न करना चाहिए। और सुनो, इन पाप कर्मों से तुम्हारी रक्षा करने वाला जिनधर्म है, उसका हृदय में आदर करो। यही धर्म संसार के दुःखों का नाश करने वाला और परम शान्ति को देने वाला है।

छप्पय

कृमिरास कुवास सरापद है, शुचिता सब छूवत जात सही।
जिस पान किये सुधि जाय हिये, जननी जन जानत नारि यही।।
मदिरा सम और निषिद्ध, यह जानि भले कुल में न गही।
धिक है उनको वह जीभ जलो, जिन मूढ़न के मत लीन कही।।।

(भूधरशतक)

।।इति तृतीयः परिच्छेदः।।

चौथी वेश्या व्यसन कथा

श्रेणिक ने गौतमगणधर को नमस्कार कर उनसे पूछा कि "स्वामी! संसार में वेश्याओं के सेवन द्वारा किसने किस तरह के दुःख भोगे हैं?" गौतमगणधर ने कहा- "तुम्हें चारुदत्त वैश्य का चरित्र कहा जाता है क्योंकि वेश्या सेवन के द्वारा उसने बहुत दुःख उठाये हैं।"

अंगदेश के अर्न्तगत चम्पा नाम की सुन्दर नगरी थी। उसके राजा, विमलवाहन थे। वे धर्म कार्य का सम्पादन बड़ी ही चतुरता के साथ करते थे, उनके राज्य में एक सेठ रहता था। उसका नाम था भानुदत्त। भानुदत्त की स्त्री का नाम देविला था, देविला के खोटे कर्मों का बड़ा उदय था, जिससे उसे पुत्र का सौभाग्य प्राप्त न हो सका और उसी से वह सदा कुदेवों की पूजा किया करती थी। एक दिन कुदेवों की पूजा करते समय उसे किसी मुनि ने देविला से कहा "तू यह मिथ्यात्व किसलिये सेवन करती है? तू नहीं जानती कि मिथ्यात्व के सेवन से जीवों को घोर दुःख उठाने पड़ते हैं।" देविला मुनिराज से बोली- "नाथ! मैं क्या करूँ? विवश हूँ, केवल पुत्र के न होने से ही यह मिथ्यात्व मुझे सेवन करने पड़ते हैं। "मुनिराज ने फिर देविला से कहा- "पुत्री! तू मिथ्यात्व को छोड़ और हृदय में यह विश्वास कर कि तुझे बहुत जल्दी पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी। तू नहीं जानती कि कहीं कुदेवों की सेवा से भी लाभ हुआ है? किन्तु उससे उल्टा अपना सम्यक्त्व रत्न नष्ट हो जाता है। जब यदि वे सुख की इच्छा करें तो इसे केवल मृगतृष्णा कहनी चाहिए। अर्थात् सुख का कारण सम्यक्त्व है, सो यदि तू सुख चाहती है तो शुद्ध सम्यक्त्व स्वीकार कर," मुनिराज का सदुपदेश सुनकर देविला ने सम्यक्त्व स्वीकार कर लिया और उनके वचनों में विश्वास कर वह अपने घर पर चली गई वहाँ सुख से उसके दिन बीतने लगे।

कुछ दिन बीतने पर उसके गर्भ रहा, जब गर्भ पूर्ण महीने का हो

चुका, तब देविला ने शुभ लग्न में पुत्र जना। और उसका नाम चारूदत्त रक्खा । सच है जब पुण्य पुरुष पैदा होता है तब सब ही शुभ हो जाते हैं। भानुदत्त को पुत्र के जन्म की बहुत खुशी हुई। उसने बहुत उत्सव के साथ पुत्र का जन्म महोत्सव किया, गरीबों को दान दिया और अपने बन्धुओं का वस्त्र आभरणादि से उचित आदर किया।

बालक दिनों दिन बढ़ने लगा, धीरे-धीरे जब बाल्यावस्था पूर्ण हुई तब उसे पिता ने (चारूदत्त को) उपाध्याय के पास पढ़ने को भेज दिया। उपाध्याय ने पहले ही उसे अक्षराभ्यास करवाया। अक्षराभ्यास बालक ने बहुत जल्दी कर लिया, ठीक ही है उत्तम बुद्धि के धारक पुरुषों के लिए संसार में कोई बात कठिन नहीं हुआ करती। चारुदत्त ने थोड़े ही दिनों में सब शास्त्र पढ़ लिये। इस समय उसकी हरिसख, गौमुख, वराह, परंतप तथा मरुभूति से मित्रता हो गई थी। वह इन्हीं के साथ-साथ पढ़ा करता था। चम्पा नगरी के बाहर एक मन्दिर नाम का पर्वत है। वहाँ से श्री यमधर मुनि मोक्ष गये थे। इसलिए वह सिद्धक्षेत्र गिना जाता था। यहाँ पर प्रतिवर्ष अगहन के महीने में मेला लगता था। एक वक्त चम्पा के महाराज विमलवाहन भी (मेला) यात्रा के लिए चले। उनके साथ बहुत से मनुष्य थे, उनमें चारुदत्त भी अपने मित्रों के साथ मुनि की वन्दना करने को गया। महाराज और सभी लोगों ने चारुदत्त को अपने साथ आया हुआ समझकर विचारा कि यह अभी बच्चा है, इसलिए इतने ऊँचे पर्वत पर नहीं चढ़ सकेगा सो उसे उन्होंने पर्वत के नीचे ही ठहरने को कह दिया और आप सब आगे को बढ़े।

चारुदत्त कुछ देर तक तो वहाँ ठहरा और जब देखा कि सब लोग चले गये हैं, तब आप भी अपने मित्रों को साथ लेकर नदी के किनारे के बगीचे में खेलने को चल दिया। चारुदत्त वहाँ खेल रहा था कि इतने में उसके कानों में कहीं से रोने की आवाज सुन पड़ी, जिधर से रोने की आवाज आ रही थी वह उधर ही चला। थोड़ी दूर जाकर देखता है तो कदम्ब के वृक्ष की डाली में एक पुरुष कीलित होकर बंधा हुआ है और उसकी दृष्टि एक ढाल पर लगी

हुई है। यह देख चारुदत्त ढाल के पास गया और उसे उसने उठाई तो उसके नीचे तीन गुटिका रक्खी हुई मिलीं। उन्हें लेकर चारुदत्त उस कीलित पुरुष के पास गया। गुटिकाओं में एक गुटिका कीलोत्पाटन नाम की थी। चारुदत्त ने उस गुटिका को उस पुरुष के लिए दे दी। उसके प्रभाव से वह उसी वक्त बन्धन रहित हो गया। संजीवनी गुटिका से उसकी मूर्च्छा जाती रही और व्रणसंरोहिणी गुटिका से उसके शरीर में जो घाव हो गये थे वे सब अच्छे हो गये।

कीलित पुरुष ने अपनी अच्छी हालत देखकर हाथ में तलवार ढाल ली और वहाँ से उसी वक्त चल दिया और थोड़ी ही देर में एक पुरुष को बांधकर वहाँ ले आया। इस वक्त उसके साथ एक स्त्री भी थी। वह चारुदत्त के पावों में गिरकर बोला कि "स्वामी! मुझे कुछ प्रार्थना करनी है उसे आप सुन लें, तो बड़ी कृपा हो।" चारुदत्त ने उससे अपनी कथा कहने को कह दिया, वह कहने लगा कि-

"विजयार्द्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में शिवमन्दिर नामक एक सुन्दर, विद्याधरों के रहने का शहर है। उसके राजा का नाम महेन्द्र विक्रम है और उनकी रानी का नाम है मत्सिका। उनका मैं एक पुत्र हूँ। मेरा नाम है अमितिगिर। मेरे मित्रों का नाम धूम्रसिंह और अरिमुण्ड है, मैं एक दिन मित्रों के साथ खेलता हुआ ह्रीमान नाम के पर्वत पर चला गया, उस पर एक हिरण्यरोम नाम का साधु रहता था। उसका जन्म क्षत्रिय कुल में हुआ था। साधु की एक परम सुन्दर कन्या थी। कन्या का नाम था सुकुमालिका, उसके सौन्दर्य पर आसक्त होकर मैंने उसके पिता से प्रार्थना की कि "इस सुन्दरी का विवाह आप मेरे साथ कर दें, तो बहुत उत्तम हो।" उसके पिता ने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर उसका विवाह मेरे साथ कर दिया, कन्या को देखकर धूम्रसिंह का भी मन डिग गया, उसके हर ले जाने की उसने बहुत कुछ कोशिश की परन्तु मेरे डर ने उसे कृतकार्य न होने दिया। आज मैं अपनी स्त्री को साथ लेकर यहीं पर क्रीड़ा करने को आया था। मैं तो अपने आनन्द में निमग्न था, कि

इतने में इस पापी कपटी मित्र ने मुझे तो कील दिया और मेरी स्त्री को यह लेकर रवाना हुआ। यह दुष्ट अब आपके सामने उपस्थित है। आप जो उचित समझें सो करें, मैं तो आज आप की ही कृपा से छूट पाया हूँ। नहीं तो न मालूम मेरी क्या हालत होती। आज से लेकर मैं आप का ही होकर जीता रहूँगा। मैं आपका दास हूँ, मेरे लिए आज्ञा कीजिए कि मैं आपकी क्या सेवा करूँ?" उसकी यह हालत देख चारुदत्त ने कहा "तुम ऐसा न समझो, हम तुम एक धर्म के पालक हैं, तुम्हारा हमारा समानधर्मीपना है। इसलिए तुम मेरे भाई हो, तुम आनन्दपूर्वक रहो यही मेरा कहना है।"

चारुदत्त ने फिर दोनों को समझा कर उनकी खूब मित्रता करवा दी, यह देखकर दोनों को बहुत खुशी हुई दोनों ने चारुदत्त का खूब सम्मान किया और उसके गुणों का यशोगान करते हुए वे दोनों ही अपने-अपने घर पर चले गये। इनके चले जाने पर चारुदत्त भी अपने मित्रों को साथ लेकर घर चला गया और फिर पहले की तरह पढ़ने में लग गया। पढ़ना उसका एक तरह का व्यसन सा हो गया था इसलिए उसे सदा पढ़ने के सिवाय कुछ सूझता ही न था।

चम्पानगरी में ही एक और सिद्धार्थ नाम का सेठ रहता था। उसके सुमित्रा नाम की स्त्री थी, इनके एक सुन्दर कन्या थी, उसका नाम था मित्रावती। सिद्धार्थ ने मित्रावती का विवाह चारुदत्त के साथ कर दिया। चारुदत्त ने गृहस्थाश्रम में यद्यपि पर्दापण किया परन्तु तब भी उसे पढ़ने का इतना व्यसन था कि वह दिन-रात पढ़ने के सिवाय अपना समय किसी दूसरे काम में न लगाता था। एक दिन उसकी स्त्री अपनी माता के यहाँ आई, माता ने उसे अलंकारादि से सुसज्जित देखकर पूछा, "प्यारी पुत्री! कारण क्या है जो ये भूषणादि कल शाम को जैसे तेरे शरीर पर सजे हुए थे वैसे ही अब भी सजे हुए हैं और चन्दन भी वैसा ही लगा हुआ दीख पड़ता है। इनका तो सुहागरात के समय में नियम से व्यतिक्रम हो जाना चाहिए। तुझ पर तेरे प्राण प्यारे का कोप तो नहीं है?" यह सुनकर मित्रावती ने उदासीनता के साथ माता से कहा-"माता! तुम प्राणप्यारे का मुझ पर कुपित होना समझती हो, परन्तु यह

बात नहीं है। उनका सब समय पढ़ने में ही जाता है, इसी से उनका मेरे सम्बन्ध होने नहीं पाता। अस्तु, इसकी मुझे कोई चिन्ता नहीं। पुत्री के वचन सुन सुमित्रा को क्रोध आया। वह उसी वक्त चारुदत्त की माता के पास गई और उससे बोली कि "तेरा पुत्र पढ़ा तो बहुत है, परन्तु मेरी दृष्टि में तो वह अभी निरा मूर्ख ही है जो विवाह हो जाने पर भी स्त्रियों के सम्बन्ध की बात तक नहीं जानता, जिन पर कि सारे संसार की स्थिति निर्भर है। यदि इसी तरह दिन-रात पढ़ना ही तुझे इष्ट था तो किसलिए तू ने मेरी पुत्री का विवाह इसके साथ करके उसे कुवें में ढकेली। जबकि उसका विवाह हो गया है तब तो उसे अब पढ़ना छोड़ देना चाहिए।" चारुदत्त की माता ने सुमित्रा को किसी तरह समझा कर बुझाकर अपने घर पर भेज दिया और आप अपने देवर के पास जाकर उससे कहने लगी कि "रूद्रदत्त !देखो, चारुदत्त का विवाह भी हो गया परन्तु वह अभी तक यह भी नहीं जानता कि भोग विलासादि क्या चीज है? इसलिए कोई ऐसा उपाय करना उचित है जो यह सब बातें जानकर वह भोगविलास की ओर झुक जाये।" सुनकर रूद्रदत्त ने कहा तुम इसकी चिन्ता न करो, मैं बहुत जल्दी इस बात का उपाय करता हूँ। यह कहकर रूद्रदत्त वहाँ से चल दिया।

इसी चम्पापुरी में एक गणिका रहा करती थी, उसका नाम था वसन्ततिलका, उसके यहाँ एक परम सुन्दरी और सब प्रकार की कलाओं में सुचतुर बसन्तसेना वेश्या थी । रूद्रदत्त अपने घर से निकलकर उसी के यहाँ गया और उससे बोला कि "मेरे बड़े भाई का एक पुत्र है। उसका नाम है चारुदत्त, वह बहुत ही सुन्दर तथा सब कलाओं का पारगामी है परन्तु दुःख इस बात का है कि वह कामक्रीड़ा में निरा अनभिज्ञ है। इसलिए तुम उसे अपनी सुन्दरता पर लुभाकर कुछ कामक्रीड़ा करना सिखाना। तुम्हें इसका उचित पारितोषिक मिलेगा," इतना कहकर रूद्रदत्त अपने घर चला गया।

रूद्रदत्त चारुदत्त को अपने साथ लेकर शहर में घूमने को निकला, वे दोनों वसन्तसेना के घर के पास पहुँचे ही थे कि इतने ही में दो हाथी लड़ते हुए

वहीं आ गये। उनकी लड़ाई से रास्ता बन्द हो गया, यह देख रूद्रदत्त झट से चारुदत्त का हाथ पकड़ कर उसे वसन्तसेना के मकान में लिवा ले गया और चारुदत्त से यह कहकर कि "जब तक हाथियों की लड़ाई बन्द न हो, तब तक यहीं ठहरते हैं ठहर गया" और समय बिताने के बहाने से वसन्ततिलका के साथ जुआ खेलने लगा। खेल में रूद्रदत्त कई बार हार गया, इससे चारुदत्त यह विचार कर कि "हमारा काका ही क्यों हरवक्त हार रहा है?" स्वयं खेलने लगा, खेलते-खेलते वसन्ततिलका चारुदत्त से कहने लगी-"हे सेठ के पुत्र! देखो, मैं तो अब वृद्धा हो चुकी हूँ और तुम अभी युवा हो, इसलिए मेरे साथ तुम्हारा खेलना उचित नहीं जान पड़ता, मेरी एक परम सुन्दरी बसन्तसेना नाम की पुत्री है। उसके साथ तुम्हारा खेलना अच्छा शोभता है। सो अब तुम उसी के साथ खेलना, मैं अभी बुलाये देती हूँ।" उत्तर में चारुदत्त बोला "जैसा तुम उचित समझो मुझे कुछ इन्कार नहीं है। बसन्तसेना बुलवाई गई, चारुदत्त उसी के साथ खेलने लगा, खेलते-खेलते बहुत देर हो गई, इतने में चारुदत्त को प्यास लग आई। उसने बसन्तसेना से जल लाने को कहा, बसन्तसेना पहले से समझाई जा चुकी थी सो वह जल में कुछ नशे की वस्तु मिलाकर ले आई और उसे उसने चारुदत्त को पिला दिया, जल पीने के कुछ ही देर बार चारुदत्त काम से पीड़ित हुआ, उसने अपने काका से घर पर चले जाने के लिए कहा, उसके वहाँ से चले जाने पर आप बसन्तसेना को मकान की ऊपरी छत पर ले जाकर उसके साथ सुरतसुख का अनुभव करने लगा, ज्यों-ज्यों वह विषय सेवन करता गया, त्यों-त्यों उसकी लालसा इतनी बढ़ती गई कि लगातार इसे वेश्या के घर रहते हुए छह वर्ष बीत गये। वेश्या को इसने अपना बहुत सा धन भी दे डाला, जब उसके पिता को यह बात मालूम हुई कि "पुत्र न तो अभी घर पर आया है और न उसकी आने की ही इच्छा है। उसने धन भी बहुत कुछ नष्ट कर डाला है" तब तो उन्हें बड़ी चिन्ता हुई, उन्होनें अपने नौकरों को चारुदत्त को बुलाने को भेजे, परन्तु चारुदत्त ने आने से साफ इन्कार कर दिया, अब की बार उसके पिता ने यह कहला भेजा कि "जाकर

चारुदत्त को कह दो कि तुम्हारे पिता बहुत बीमार हैं, उनकी सम्हाल करने वाला भी कोई नहीं है, सो तुम्हें चलना चाहिए।" उसके भी उत्तर में चारुदत्त ने यह कह दिया कि उनके "आराम कराने के लिए अच्छे-अच्छे विद्वान वैद्य बुलवाये जायें और उनकी इच्छानुसार धन देकर पिताजी को रोग का इलाज करवाया जाये," अन्त में उसके पिता ने देखा कि "अब यह व्यसन में बहुत गर्क हो गया है, इसका छुटकारा होना सहज नहीं जान पड़ता। तब एक बार और उसके पास आदमी भेजे और उनके द्वारा यह कहलवाया कि "तेरे पिताजी की जीवनलीला समाप्त हो चुकी है, अब उनकी अन्तिम क्रिया तो कर आ," इस पर भी चारुदत्त के कानों पर जूँ न रेंगी किन्तु और उल्टा कह दिया कि हमारे घर के लोगों से जाकर यह कह दो कि पिताजी के शव का चन्दनादि सुगन्धित वस्तुओं से वह्नि संस्कार किया जावे। पुत्र की यह हालत देखकर उसके पिता ने सोचा कि "यह तो दुर्व्यसन की पराकाष्ठा पर पहुँच चुका है, अब इसका छुटकारा होगा यह असम्भव है। अस्तु, जैसा जिसका कर्म है, उसी के अनुसार उसका भविष्य भी होगा। फिर मैं ही अपने कर्तव्य कर्म से क्यों चूकूँ?" यह विचार कर चारुदत्त के पिता ने दुःखों की नाश करने वाली जिनदीक्षा ग्रहण कर ली, उधर चारुदत्त की हालत दिनों दिन अधिक-अधिक बुरी होने लगी। बहुत सा धन तो उसने पहले ही बरबाद कर दिया था, कुछ थोड़ा बहुत और बचा था सो उसे भी जल्दी नष्ट कर डाला और जब पैसा पास नहीं रहा तब अपना मकान भी गिरवी रख दिया। गर्ज यह कि उसका सब धन नष्ट हो चुका। उसकी माता एक अच्छे धनवान की गृहिणी होकर भी आज वह दरिद्रा है। आह! कर्म का परिपाक बड़ा विचित्र होता है। कौन जानता था कि इसकी यह हालत हो जायेगी और इसे पैसे-पैसे के लिए तरसना होगा। भाइयों! वेश्या के सेवन से जो पराकाष्ठा की बुरी दशा होती है उसका चारुदत्त बहुत उत्तम उदाहरण है। इसे देखकर क्या आप अपने सुधार की इच्छा न करेंगें?

जब चारुदत्त के घर की गरीबी की हालत वसन्ततिलका को मालूम

हुई तब उसने अपनी पुत्री को एकान्त में बुलाकर उससे कहा कि "पुत्री! अब चारुदत्त बिल्कुल दरिद्री हो चुका है। इसलिए अब इससे प्रीति छोड़कर किसी दूसरे धनिक युवा के साथ प्रेम करना तुझे उचित है। क्योंकि वेश्याओं का यही कर्तव्य है कि वे कामदेव की तरह सुन्दर होने पर भी निर्धन पुरुष से अपना प्रेम करना छोड़ दें, इसलिए मैंने तेरा कर्तव्य तुझे सुझा दिया है इसे तू पालन कर, संसार में यह बात सभी जानते हैं कि "वेश्यायें निर्धन के साथ प्रेम नहीं करतीं।" बसन्तसेना अपनी माता का कहना सुनकर बोली कि "माता! यद्यपि तुम ठीक कहती हो, परन्तु मुझसे तो यह अनर्थ न हो सकेगा। इस जीवन में यही दरिद्री मेरा स्वामी है। इसे छोड़ कर दूसरे को मैं कभी नहीं चाहूँगी, यह मेरा दृढ़ संकल्प है।" बसन्तसेना अपनी माता की बुरी नीयत को जान गई, इसलिए अब वह सदा चारुदत्त के पास रहने लगी, एक मिनट के लिए भी वह उसे छोड़ना नहीं चाहती थी।

एक दिन की बात है कि चारुदत्त और बसन्तसेना को पापिनी वसन्ततिलका ने भोजन कराते वक्त अधिक निद्रा आने वाली वस्तु खिला दी, भोजन खाकर वे दोनों सो गये, उन्हें निद्रा ने जोर से धर दबाया, निद्रा के पराधीन देखकर उसने चारुदत्त के सब वस्त्राभूषण तो उतार लिये और उसे एक कपड़े की गठ्ड़ी में बांधकर पाखाने में डाल दिया, जब प्रातःकाल हुआ, तब कुत्ते आकर उसका मुख चाटने लगे, चारुदत्त नशे में ही बोलता है कि "प्यारी वसन्तसेने! मुझे इस वक्त नींद अधिक सता रही है, तुम जाओ और मुझे सोने दो।" इस समय यहीं पर एक पुलिस का कर्मचारी खड़ा हुआ था, उसने यह देखकर पाखाने में से उसे बाहर निकाला और उससे पूछा कि "तू कौन है?" और इस पाखाने में कैसे गिर पड़ा है?" यह सुनकर चारुदत्त की अक्ल ठिकाने आई, उसे जब यह जान पड़ा कि यह सब बसन्ततिलका की करतूत है और उसी पापिनी ने मुझे पाखाने में डाला है, तब उसे बड़ी घृणा आई, स्वयं पर जो-जो आपत्तियाँ बीती थीं, वे सब उस कर्मचारी से उसने कह सुनाई। सनुकर वह चला गया, इधर चारुदत्त भी वहाँ से चलकर अपने

घर पर गया, परन्तु द्वारपालों ने उसे घर में न घुसने दिया, यह देख चारुदत्त ने लोगों से कहा- "तुम मुझे भीतर क्यों नहीं जाने देते हो? यह तो मेरा घर है," उत्तर में नौकरों ने कहा "चारुदत्त! यद्यपि यह घर तेरा ही है इसमें सन्देह नहीं, किन्तु इस वक्त तो यह हमारे मालिक के यहाँ गिरवी रक्खा हुआ है। इसलिए इस पर अब तेरा अधिकार नहीं रहा।" चारुदत्त ने पूछा-"खैर! क्या तुम यह जानते हो कि मेरी गरीब माता अब कहाँ रहती है? और मेरी स्त्री की क्या दशा है?" यह सुन नौकरों ने उसकी माता के रहने की झौंपड़ी उसे बता दी, चारुदत्त माता के पास गया और उससे मिला, अपने प्यारे पुत्र की हीन दशा देखकर माता को जो दुःख हुआ, वह लिखा नहीं जा सकता, यही हालत अपने प्राणप्यारे को देखकर उसकी स्त्री की भी थी। माता ने पुत्र को गले लगाया और स्नान कराकर उसके शरीर को शुद्ध किया। चारुदत्त ने अपनी सब कथा माता को सुना दी। सुनकर माता बहुत खेदित हुई। सच है, जैसा स्नेह पुत्र पर माता का होता है वैसा किसी का नहीं होता। इसके बाद चारुदत्त ने भोजन कर माता से कहा- "माता! हम लोग इस समय बड़ी बुरी हालत में हैं, इसलिए मेरी इच्छा है कि मैं विदेश जाकर धन के कमाने का उपाय करूँ, इस दरिद्र दशा में मेरे द्वारा न तुम्हें ही कुछ सुख हो सकता है और न मुझे। इसलिए तुम मुझे जाने की आज्ञा दो," जब चारुदत्त के विदेश जाने का हाल उसके मामा ने सुना, तो वह उसी वक्त वहाँ आया और चारुदत्त से बोला- "सुनो, तुम्हारी इच्छा व्यापार करने की है यह बहुत अच्छी बात है, तुम मेरे घर चलो, मेरे पास बहुत धन है। उससे अपनी इच्छानुसार व्यापार करना," चारुदत्त ने उत्तर में कहा - "मामाजी! आपका कहना बहुत अच्छा है, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु मेरी इच्छा अब यहाँ रहने की नहीं है। मैं तो विदेश जाकर ही व्यापार करूँगा," चारुदत्त के मामा ने फिर उससे अधिक आग्रह नहीं किया, इसके बाद चारुदत्त अपनी माता और स्त्री को समझा कर घर से बाहर निकला, चारुदत्त का मामा भी प्रेम के वश हो उसके पीछे-पीछे हो लिया। कुछ दिनों के बाद वे दोनों एक नदी के किनारे पहुँचे, वहाँ से मस्तक पर गाजर की

गठरियाँ लादकर पलाश कर नगर में पहुँचे और वहाँ वृषभदत्त की दुकान पर बैठकर गाजर बेचने लगे। गाजर के व्यापार में इन्हें कुछ लाभ हुआ। उसके द्वारा कपास खरीद कर वे बैल लादने लगे। इन्हीं दिनों में इनकी एक बनजारे से मित्रता हो गई। उसके माफत व्यापार कर इन्होंने बहुत धन कमाया, परन्तु अशुभ कर्म ने अभी भी इनको न छोड़ा, मार्ग में बिचारों को भीलों ने लूट लिया और आग के लग जाने से कपास भी जल गया, बिचारे फिर दरिद्री के दरिद्री हो गये।

वहाँ से फिर वे दोनों मलय पर्वत पर बसे हुए शहर में गये, वहाँ उनके भाग्य का सितारा चमका, उन्होंने वहाँ रहकर बहुत रत्न और धन उपार्जन किया। देव की कुटिलता से अब की बार भी उन्हें लुटेरों ने लूट लिया, वहाँ से भी वे चले और कुछ दिनों के बाद प्रियंगु शहर में पहुँचे। यहाँ चारुदत्त के पिता का एक पुराना मित्र रहता था। उसका नाम था सुरेन्द्र दत्त। सुरेन्द्रदत्त अपने मित्र के पुत्र की सहायता करने के आशय से उन्हें और दूर देश ले गया, जहाँ व्यापार की अच्छी उन्नति थी। उन्होंने वहीं बारह वर्ष तक ठहर कर बहुत सा धन कमा लिया, अन्त में जब धन जहाज पर लादकर वे अपने देश की ओर लौटे, कर्मयोग से अब की बार भी जहाज टूटकर जल में डूब गया। इन्होंने किसी लकड़ी के टुकड़े को पाकर बड़ी ही मुश्किल से समुद्र के बाहर होकर अपने प्राणों की रक्षा की, अब न तो सिद्धार्थ को यह पता है कि चारुदत्त किधर गया और न चारुदत्त अपने मामा सिद्धार्थ का हाल जानता है। सिद्धार्थ चारुदत्त का शोध लगाता हुआ धीरे-धीरे अपने शहर में आ पहुँचा। परन्तु वहाँ भी उसे चारुदत्त का हाल नहीं मिला।

उधर चारुदत्त समुद्र से बाहर होकर जब वहाँ से रवाना हुआ, तब उसे उदम्बरती नगरी में आकर अपने मामा का हाल मिला, चारुदत्त को सन्तोष हुआ। यहाँ से चारुदत्त रवाना होकर सिन्ध देश के अर्न्तगत सम्बरी नामक गांव में आया। यहाँ पर किसी के यहाँ उसके पिता का बहुत सा धन अमानत रक्खा हुआ था। चारुदत्त ने पिता का धन मन्दिरों का जीर्णोद्धार और

दान आदि पुण्य कर्म में लगाना आरम्भ किया। इससे उसकी कीर्ति सब जगह विस्तृत हो गई। यह देख उसकी परीक्षा करने को एक देव मनुष्य का वेष धारण कर जिन मन्दिर में आया। उसके कुछ देर बाद चारुदत्त भी जब भगवान की पूजन करने को आया तब एक मनुष्य को वहाँ रोता हुआ देखकर उसने उससे पूछा कि "भाई! तुम किसलिये रो रहे हो? क्या किसी रोग से तो तुम पीड़ित नहीं हो?" उत्तर में वह कपट वेषी मनुष्य बोला- "महापुरुष! आपसे कुछ प्रार्थना करनी है उसे आप सुन लें, तो बड़ी कृपा होगी। वह यह कि मेरे शरीर में शूलरोग की बड़ी वेदना हो रही है और वैद्य ने उसका इलाज मनुष्य का मांस बताया है। दान देने में आपकी कीर्ति बहुत फैल रही है, यही सोच समझ कर मुझे आपके पास आना पड़ा है। आप जीवों के बड़े उपकार करने वाले हैं। इसलिए मुझ पर भी दया करके अपने शरीर का माँस मुझे दान करें तो आपका बड़ा अनुग्रह होगा। तभी मैं मरने से बच सकता हूँ, नहीं तो मेरा जीना बड़ा ही मुश्किल है, माँस की सुलभता न होने से ही रो रहा हूँ।"

उसका कहना सुनकर चारुदत्त ने उससे कहा- "भाई! यदि यह बात ठीक है और वात्सव में मनुष्य के माँस से तुम्हारी वेदना मिट सकती है तो मैं अपने शरीर का माँस तुम्हें देने को तैयार हूँ।" इतना कहकर चारुदत्त ने छुरी से अपने पार्श्व भाग (पसवाड़े) का मांस काटकर उसे दे दिया, कपटी देव चारुदत्त की इस अलौकिक धीरता और उपकार बुद्धि को देखकर चकित हो गया। उसी समय अपना प्रत्यक्ष परिचय देकर वह चारुदत्त की स्तुति करने लगा और उसके गुणों की प्रशंसा करके अपने स्थान पर चला गया। इधर चारुदत्त भी अपने पास के सब धन को दानादि उत्तम कर्मों में लगाकर राजगृह की ओर चल दिया, वहाँ उसे एक दण्डी साधु मिला, साधु के पूछने पर चारुदत्त ने अपनी आदि से अन्त तक सारी कथा कह सुनाई, दण्डी ने उसकी हालत सुनकर ऊपर से दुःख प्रकाशित करके उससे कहा "तुम किसी तरह की चिन्ता न करो, मेरे साथ पीछे-पीछे चले आओ। यहाँ से थोड़ी दूर पर एक रसकूपिका है। उससे मनुष्यों को उनकी इच्छा के अनुसार धन मिल सकता

है।" चारुदत्त लोभ के वश होकर दण्डी के पीछे-पीछे रसकूपिका के पास पहुँच गया। दण्डी ने एक खाट पर चारुदत्त को बैठाकर और उसके हाथ में एक तुम्बी देकर कह दिया कि "जब तुम भीतर पहुँच चुको, तब उसमें रस भर कर उसे खाट पर रख देना। पहले रसतुम्बी को रस्सी से बाहर निकाल कर पीछे तुम्हारे निकालने के लिए खाट को कूपिका में उतार दूँगा सो तुम उस पर बैठ जाना, फिर मैं तुम्हें जल्दी बाहर निकाल दूँगा।" चारुदत्त उसकी कपट वृत्ति न समझ कर बोला- "महाराज! जैसा आप कहते हैं मैं वैसा ही करूँगा," इतना कहकर चारुदत्त खाट के ऊपर बैठ गया, दण्डी साधु ने उसे तुम्बी देकर कुवें के भीतर उतार दिया, नीचे पहुँच कर ज्यों ही रस भरने को चारुदत्त ने तुम्बी को आगे बढ़ाई कि इतने में एक मनुष्य ने (जो पहले ही से कुंवे के भीतर बैठा हुआ था) कहा कि "क्या तू भी उसी नीच दण्डी साधु के जाल में फँस गया है? जान पड़ता है उसी ने तुझे भी इसमें उतारा है, मुझे भी उसी पानी के रसका लोभ दिखला कर इस कुवें में उतार दिया है," चारुदत्त ने उसकी यह हालत देखकर पूछा "तुम कौन हो? और क्यों इसमें डाले गये हो? वह बोला-मित्र! जो कुछ मुझ पर बीती है उसे तुम यदि सुनना चाहते हो तो सुनो मुझे उसके सुनाने से कुछ इन्कार नहीं है वह यों है-"

"मैं उज्जयिनी में रहता हूँ और जाति का वैश्य हूँ। जब कर्मों की विचित्रता से मुझे दरिद्रता ने आ घेरा, तब मैं इधर-उधर घूमने लगा, घूमते हुए मुझे इन साधु महाराज के दर्शन हो गये। ये धन का लोभ दिखाकर मुझे यहाँ लिवा लाये, इनके कहने से मुझे इस कुवें में उतरना पड़ा। जब मैं नीचे पहुँच गया तब तुम्बी में रसभर उसे साधु के कहे अनुसार मैंने खाट पर रखी दी, साधु महाराज ने पहले तुंबी को झट से बाहर निकाल ली और बाद में मेरे निकालने के लिए खाट को कुवें के भीतर उतारी, मैं खाट पर बैठ गया, जब आधी दूर आ चुकी, तब उसकी रस्सी काट दी, मैं धड़ाम से कुंवे में गिर पड़ा, परन्तु दैव की विचित्रता से किसी तरह बचकर यहाँ बैठा हुआ हूँ। यही कारण मेरे यहाँ आने का है," अपना हाल कहने के बाद उसने चारुदत्त से उसके

आने का हाल पूछा। चारुदत्त ने सब बातें ठीक-ठीक कह दीं। इसके बाद चारुदत्त ने उससे यह और पूछा कि "अब तुम यह बताओ कि मेरा क्या कर्तव्य है?" उत्तर में उसने कहा- "मित्र! तुम यह करो कि पहले तो तुम्बिका भरकर खाट पर रख दो, जब वह पापी इसे निकाल कर खाट को तुम्हारे निकालने के लिए भीतर उतारेगा, तब उस पर तुम एक पत्थर रख देना, पत्थर के वजन को वह तुम्हारा वजन समझ कर रस्सी काटकर चल देगा। ऐसा करने से तुम अपने को बचा सकोगे।" यही हुआ भी दूसरी बार पत्थर रक्खी हुई खाट की रस्सी काट कर वह पापी चल दिया, उसके चले जाने पर चारुदत्त ने उससे फिर कहा कि "क्या कोई ऐसा उपाय है, जिसके द्वारा मैं इसके बाहर हो सकूँ?" वह बोला "मध्याह्नकाल में इसका रस पीने को एक गोह आया करती है, सो जब वह आवे तब तुम उसकी पूँछ पकड़ कर बाहर निकलने की कोशिश करना, आगे तुम्हारा भाग्य है। इसे छोड़कर और अन्य उपाय मुझे सूझ नहीं पड़ता," इतना कहकर वह चारुदत्त से कहने लगा कि "मित्र! मुझे इस समय बड़ी भारी वेदना हो रही है। मैं मरना ही चाहता हूँ। यदि हो सके तो मुझे कल्याण का उपदेश सुनाओ," चारुदत्त ने उसकी यह दशा देखकर उसे नमस्कार मंत्र सुनाया, सुनते-सुनते शुद्ध परिणामों के साथ उसने प्राण विसर्जन कर दिये, महामंत्र के प्रभाव से उसे स्वर्ग में देवपद मिला।

उधर जब मध्याह्नकाल का समय आया, तब प्रतिदिन के अनुसार एक गोह उस कूपिका का रस पीने को आई और रस पीकर जब वह पीछे लौटने लगी, तब उसकी पूँछ को चारुदत्त ने पकड़ ली, गोह के साथ-साथ चारुदत्त भी ऊपर को चढ़ने लगा, चढ़ते-चढ़ते केवल एक ही हाथ और ऊपर चढने में बाकी रह गया था कि गोह अपना बिल आ जाने से उसमें घुस गई और चारुदत्त उसकी पूँछ पकड़े वहीं ठहर गया, इसी समय कुछ बकरियाँ चरती-चरतीं कुंवे के किनारे पर होती हुई जा रही थीं कि इतने में एक बकरी का पांव फिसल कर बिल के ऊपर जा पड़ा, यह देख चारुदत्त ने उसका पांव बड़े जोर से पकड़ लिया, बकरी मैं-मैं करने लगी, उसका मिमयाना सुनकर

बकरियों का मालिक दौड़ा आया, बकरी का पांव बिल में फंसा हुआ देखकर उसने वहाँ की जमीन खोदनी आरम्भ की, उसने धीरे से खोदकर चारुदत्त को बाहर निकाल दिया। बाहर निकलते ही चारुदत्त प्राण बचाकर भागा, चारुदत्त का ऐसा करना उसे बड़ा ही आश्चर्यकारक जान पड़ा, परन्तु फिर वह अधिक हाल जानने की कोशिश न कर अपने घर चला गया।

चारुदत्त निकल कर वहाँ से भागा ही था कि एक भैंसे ने उसका पीछा किया, उसके पीछे-पीछे आने से चारुदत्त बहुत कुछ घबराया, रास्ते में चारुदत्त को एक गिरी-गुहा दीख पड़ी, वह उसमें घुसना ही चाहता था कि उसके द्वार पर ही एक बड़ा भारी भयंकर अजगर उसकी दृष्टि में आया, परन्तु भैंसे के भय के मारे वह कुछ विचार न कर के अजगर के मस्तक पर पांव देकर गुहा के भीतर जा घुसा, अपने सिर पर वजन के पड़ने से अजगर जाग गया, जागते ही उसकी दृष्टि गुहा के द्वार पर खड़े हुए भैंसे पर पड़ी। अजगर ने उसकी बलि करनी चाही कि भैंसा भी बिगड़ गया दोनों में कुछ धींगा-धींगी होने लगी। इतने में मौका देखकर चारुदत्त गुहा से भाग निकला, वहाँ से निकल जाने पर भी बिचारे को आपत्ति से छुट्टी नहीं मिली, गुहा से निकलते ही काल की तरह उसके पीछे दो भैंसे और हो लिए, उनके भय से वह एक ऊँचे वृक्ष पर चढ़ गया, जब वे भैंसे निरुपाय होकर लौट गये, तब चारुदत्त भी वृक्ष से उतर कर एक नदी के किनारे पर आया, वहाँ पर इसे हरिसिख आदि इसके मित्र भी मिल गये जो इसको ढूँढने के लिए इधर-उधर घूम रहे थे। चारुदत्त इन्हें देखकर बहुत खुश हुआ और प्रेमपूर्वक सबसे गले लगाकर मिला, इसके बाद वहीं पर सबने एक ही साथ बैठकर भोजन किया और भोजन के बाद वे अपने-अपने सुख-दुःख की कहानी परस्पर में एक-दूसरे से कहने लगे, वह दिन सबका बड़े आनन्द के साथ बीता।

दूसरे दिन वे सब मित्र वहाँ से श्रीपुर की ओर रवाना हुए, श्रीपुर में चारुदत्त के पिता का मित्र रहा करता था। उसका नाम था प्रियदत्त, उसने चारुदत्त को अपने मित्र का पुत्र समझ कर उसका बहुत कुछ सत्कार किया

और वहाँ से चलते समय उनके साथ बहुत सी भोजन सामग्री रख दी जिससे उन्हें खाने-पीने की तकलीफ न उठानी पड़े। चारुदत्त वगैरह ने उनके पास जो धन था उसके द्वारा श्रीपुर से काँच की चूडियाँ खरीदीं और उन्हें गान्धार देश में ले जाकर बेचीं, यह देख एक मनुष्य ने उनसे पूछा कि "तुम कौन हो और किसलिए तकलीफ सहन कर पृथ्वी पर परिभ्रमण करते हो?" उत्तर में चारुदत्त ने अपनी जितनी दुःख भरी कहानी थी, वह सब उस पुरुष से कह सुनाई। उनकी कहानी सुनकर उस पुरुष ने इनके साथ सहानुभूति प्रकट कर कहा कि –

"यहाँ से थोड़ी दूर चलकर एक बहुत ही संकीर्ण मार्ग मिलता है उसे बकरों पर चढ़कर पार करना पड़ता है। क्योंकि वह पर्वतीय प्रदेश होने से, बिना बकरों की सहायता के पार नहीं किया जा सकता। सो जब तुम बकरों के द्वारा मार्ग तय करके निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच चुको, तब उन सब बकरों को मार डालना और उनके चमड़े की भाथड़ियाँ बनाकर उनके भीतर घुस जाना और उन्हें भीतर से सी लेना। उन्हें माँस पिण्ड समझकर बहुत से गृद्ध (भैरुण्ड पक्षी) आवेंगे और उठा-उठा कर रत्नद्वीप में ले जावेंगे। जब वे वहाँ पहुँच जावें और अपनी चोंचों से उन्हें फाड़ने लगें, तब तुम छुरी से चीकर उनके बाहर निकल आना। तुम्हें देखकर डर के मारे वे सब गृद्ध भाग जावेंगे। फिर तुम लोग अपनी इन्छानुसार वहाँ से रत्न ले लेना।" रूद्रदत्त उसकी बात सुनकर बहुत खुश हुआ, उसने उस मनुष्य के कहे अनुसार बकरे खरीद कर चारुदत्त से कहा कि यहाँ से अपने को पर्वत पर चलकर जिन मन्दिरों की वन्दना करनी चाहिए। परन्तु वह मार्ग बहुत संकीर्ण है। इसलिए बकरों पर चढ़कर चलना होगा। बकरों के मारने का हाल चारुदत्त को कुछ भी मालूम न था। उस मनुष्य ने ये सब बातें रुद्रदत्त से कहीं थीं। रुद्रदत्त ने चारुदत्त को जिन चैत्यालय की वन्दना के बहाने से पर्वत पर चलने को राजी कर लिया, सच है मायावी पुरुष हरेक को अपने पंजे में फंसा लेते हैं।

वे सब वहाँ से रवाना होकर वहीं पर पहुँचे जहाँ से पर्वत पर चढ़ना

पड़ता था। रुद्रदत्त ने उन लोगों से कहा "अभी आप लोग यहीं ठहरें क्योंकि आगे रास्ता केवल चार अंगुल चौड़ा है। मैं थोड़ी दूर जाकर देख आता हूँ कि साफ रास्ता हम लोगों को कहाँ से मिलेगा और मुझ अकेले के जाने से किसी तरह की हानि भी न होगी। मैं बहुत जल्दी लौटकर आ जाऊँगा," सुनकर उन सभी ने रुद्रदत्त से कहा कि "आपका जाना उचित नहीं है, हम लोग ही जाते हैं हम लोगों को कोई भारी आपत्ति का सामना भी यदि करना पड़े तो उससे उतनी हानि नहीं होगी कि जितनी आप के अकेले से हो जाना संभव है। यह है भी ठीक कि आलसी और अकर्मण्य पुरुष बहुत भी जीते रहें परन्तु उनसे उतना लाभ नहीं पहुँच सकता जितना कर्मवीर एक ही पुरुष के जीने से पहुँच सकता है।" इन लोगों के पारस्परिक वार्तालाप को सुनकर चारुदत्त बोला "भाइयो! आप लोगों का जाना मुझे उचित नहीं जान पड़ता। क्योंकि एक के लिए बहुतों का नाश होना अच्छा नहीं है। इसलिए आप तो यहीं कुछ देर तक विश्राम कीजिए। मैं जाता हूँ और सुगम मार्ग देखकर अभी ही लौट आता हूँ।" यह कहकर चारुदत्त जिन भगवान की हृदय में आराधना कर बकरे पर चढ़ा और बहुत जल्दी उस चार अंगुल चौड़े रास्ते को पार कर गया, चारुदत्त सुमार्ग देखकर जब तक वापिस आता है कि उसके पहिले ही रुद्रदत्तादि उसके आने में देरी समझ कर उसी ओर चल पड़े। वे आधी दूर पहुँचे होंगे कि उधर से चारुदत्त भी आ गया और इन्हें देखकर बोला कि "मैं तो आ ही रहा था, आप लोग वहीं क्यों न ठहरे? इतनी जल्दी करके आपने उचित नहीं किया," उत्तर में वे कहने लगे कि "तुम्हें इतनी देरी हो गई। इसी से यह समझ कर कि कहीं तुमको किसी आपत्ति का तो सामना नहीं करना पड़ा है, हम लोग अधिक देर तक न ठहर कर तुम्हारे समाचार लेने को चले आये।" चारुदत्त ने कहा "जिस भय से आप भीतभीत हुए हैं जान पड़ता है देव ने उसी का सम्बन्ध मिलाया है। अस्तु जो हो, अब चिन्ता करने से कुछ लाभ नहीं निकल सकता। कोई बचने का उपाय करना चाहिये," वे लोग चारुदत्त से बोले कि "महाभाग! ठहरिये, हम लोग पीछे लौटते हैं।" चारुदत्त यह कहकर कि "आपको लौटना

उचित नहीं है" आप स्वयं लौट गया। सच है, पुण्योदय सब जगह सहायी होता है। चारुदत्त के लौटते ही वे सब भी उसके पीछे-पीछे चलकर पर्वत पर पहुँच गये। पर्वत पर पहुँच कर चारुदत्त ने उन लोगों से पूछा "भाईयों! तुमने पर्वत पर जिन मन्दिर बतलाये थे वे दिखाई तो नहीं पड़ते, कहो तो कहाँ हैं?" उत्तर में रुद्रदत्त ने कहा "अभी कुछ आगे हैं, इसलिए अब हमको यहाँ कुछ विश्राम कर लेना चाहिए।" बिचारे भोलेभाले चारुदत्त ने उन लोगों के कहने को ठीक समझ कर निद्रा देवी के आराधन में अपने को लगाया। बहुत दूर से आया था, सो थक जाने के कारण उसे निद्रा आ गई। इसे निद्रित देखकर उन पापियों ने सब बकरों को मार डाला, सबसे पीछे से उन्होंने चारुदत्त के बकरे को मारना आरम्भ किया ही था कि इतने में उसके मिमयाने से चारुदत्त की निद्रा खुल गई। वह इस भीषण हत्याकाण्ड को देखकर घबरा उठा। उसने उन पापियों से कहा "अरे! नीचों! तुमने इन निरपराधी जीवों की हत्या करके क्या लाभ उठाया? कहो तो इन बेचारों ने तुम्हारा क्या नुकसान किया था? तुम बड़े ही निर्दयी हो, जरा सोचो तो यदि कोई इसी तरह तुम्हें भी मार डाले तो क्या तुम दुःखी न होओगे? तुम मनुष्य नहीं हो किन्तु मनुष्यों के रूप में राक्षस हो। धिक्कार है तुम्हारे जीवन को, जो मनुष्य होकर भी तुम्हारे में दया का अंकुर तक नहीं दीख पड़ता, याद रक्खों, यह पाप तुम्हें उसी अवस्था पर पहुँचायेगा जिस अवस्था पर तुमने इन निरपराध जीवों को पहुँचाया है," इसी तरह चारुदत्त ने उन्हें बहुत कुछ धिक्कारा। चारुदत्त का बकरा अभी कुछ जीवित था, उसे इस हाल में चारुदत्त ने नमस्कार मंत्र सुनाया जिसके प्रभाव से वह मरकर स्वर्ग में देव हो गया। चारुदत्त की फटकार सुनकर इन लोगों ने जिस कारण से बकरों की हत्या की थी, वह चारुदत्त से कह सुनाया। चारुदत्त को इनकी क्रूरता पर दुःख तो बहुत हुआ, परन्तु फिर भी अन्त में इसे भी इनके साथ-साथ उस बकरे के चर्म की भाथड़ी बनानी पड़ी, क्यों कि ऐसा न करने से उसके बचने का कोई उपाय नहीं था। भाथड़ी में घुसकर इन्होंने उसके मुख को भीतर से सी लिया। कुछ देर बाद मांस के लोभ से बहुत से गृद्ध पक्षी वहाँ

पर एकत्रित हो गये और भाथड़ियों को अपनी-अपनी चोंचों में दबाकर ले उड़े। इनमें चारुदत्त की भाथड़ी अन्धे गृद्ध के हिस्से में पड़ी थी। वह उसे ही लेकर उड़ा। ये सब पक्षी समुद्र में उड़े चले जा रहे थे कि इतने में एक दूसरा ही पक्षी आ गया और भाथड़ी छुड़ाने के लिए इन पक्षियों से लड़ने लगा। उसे सबके साथ लड़ता देखकर अन्ध गृद्ध भागा, जल्दी-जल्दी भागने से भाथड़ी उसके मुँह से समुद्र में गिर पड़ी। वह उसे उठाकर फिर भागने लगा। भाथड़ी फिर भी गिर पड़ी। इसी तरह उसकी भाथड़ी समुद्र में सात बार गिरी, परन्तु फिर भी उसे उसने किसी तरह ले जाकर रत्नद्वीप की चूलिका पर रख दी और जब वह खाने के लिए उसे चोंचों से फाड़ने लगा तब चारुदत्त ने भाथड़ी को चीर डाली और उसके भीतर से आप बाहर निकल आया। एकाएक भाथड़ी में से मुनष्य को निकला हुआ देखकर पक्षी मारे डर के वहाँ से उसी वक्त उड़ गया।

उधर उन रुद्रदत्तादिकों को वे पक्षी किधर उड़ा ले गये, इस बात का पता न लगा, चारुदत्त रत्नद्वीप में पहुँच चुका था। उसे वहाँ एक सुन्दर जिनमंदिर दीख पड़ा, वह मन्दिर में गया और जिन भगवान की भक्तिपूर्वक वन्दना और पूजा कर बाहर आया, वहीं पर एक मुनिराज विराजे हुए थे, चारुदत्त को धर्मवृद्धि देकर कुशल क्षेम के बाद मुनिराज ने उससे पूछा "चारुदत्त! कुशल तो हो, चारुदत्त मुनिराज के मुँह से अपना नाम सुनकर बड़े विस्मय में पड़ गया। वह मुनि से कहने लगा कि "स्वामी! आपने मुझे कैसे जाना? क्या कभी आपने मुझे कहीं देखा है?" उत्तर में मुनि ने कहा- "चारुदत्त! क्या तुम नहीं जानते, मैं वही अमितगति विद्याधर हूँ, जिसे तुमने एक वक्त छुड़ाया था। तुमने ही तो मुझे बन्धन मुक्त कर मेरी स्त्री मेरे सुपुर्द की थी, तुम्हारी ही कृपा से मैंने पुत्रपौत्रादि सहित बहुत दिन तक राज्य सुख भोगा और पुत्र को राज्य भार देकर संसार के दुःख के नाश करने को यह पवित्र जिन दीक्षा ग्रहण कर ली है।" मुनिराज ने अपना वृतान्त पूरा ही किया था कि इतने में विमान में बैठे हुए दो विद्याधर वहाँ आये। इनके नाम थे

सिंहग्रीव और वराहग्रीव। ये दोनों ही गृहस्थावस्था के मुनिराज के पुत्र थे और इस समय ये अपने पिता की वन्दना के लिए आये थे। इन्होंने पहले ही जिन भगवान की भक्तिपूर्वक पूजा की और बाद में ये अपने पिता की वन्दना करने को आये। आते ही इनसे मुनिराज ने कहा- "पुत्रो! जिस पवित्र पुरुष को तुम देख रहे हो, यह मेरा बड़ा भारी मित्र है। इसका नाम है चारुदत्त, पहले तुम इसे इच्छाकार (अर्थात् मैं भी उसी मार्ग पर चलने की इच्छा करता हूँ जिस मार्ग पर आप चल रहे हैं) करो," मुनिराज के कहे अनुसार उन दोनों ने चारुदत्त को इच्छाकार कर मुनिराज से पूछा "नाथ! ये कौन है? कहाँ के रहने वाले हैं और आपकी इनकी मित्रता कैसे हुई? यह सब जानने की इच्छा है।" पुत्रों के प्रश्नानुसार मुनिराज ने सब वृतांत अपने पुत्रों को सुनाया, जिसे सुनकर वे दोनों भाई बहुत खुश हुए और चारुदत्त से बहुत प्रेम करने लगे।

इसी अवसर में वहीं पर दो देव विमान में बैठकर आ उपस्थित हुए। उन्होंने पहले तो जिन भगवान की वन्दना की फिर चारुदत्त की और उसके पीछे मुनिराज की, यह देख सिंहग्रीव विद्याधर देव से बोला क्या स्वर्ग के सभी देव तुम सरीखे ज्ञान शून्य हैं? सुनकर देवों ने कहा "भाई! बताओ कि तुमने यह बात कैसे जान पाई कि स्वर्ग के देवता ज्ञान शून्य हैं?" चारुदत्त ने कहा "देवता ज्ञानशून्य हैं या ज्ञानवान, यह तुम्हारे बर्ताव ही से स्पष्ट जान पड़ता है। देखो! तुम्हें पहले मुनि को वन्दना करनी चाहिये थी सो ऐसा न कर तुमने पहले गृहस्थ की वन्दना की।" यह सुन देवों ने कहा "तुमने जो कहा, वह ठीक है परन्तु, चारुदत्त हमारा प्रथम गुरु है। इसी कारण हमने इसे पहले वन्दना की है। "सिंहग्रीव ने कहा "अच्छा यही सही परन्तु बतलाओ, तो चारुदत्त तुम्हारा प्रथम गुरु कैसे है?" उत्तर में वह देव जो बकरे का जीव मरकर देव हुआ बोला-

"काशी में एक सोमशर्मा ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री का नाम सोमिला था, इनके भद्रा और सुलसा नाम की दो कन्यायें थीं। सोमशमा ने इन्हें सब शास्त्रों में अच्छी निपुण कर दी थीं, ये अपने विद्या के अभिमान में

चूर होकर कुमारी अवस्था ही में साध्वी हो गई। इनकी बहुत कुछ प्रसिद्धि सुनकर याज्ञबल्क्य साधु शास्त्रार्थ करने की इच्छा से इनके पास आया और शास्त्रार्थ में सलुसा को जीतकर और उसके साथ अपना विवाह कर सुखपूर्वक इसी के पास रहने लगा। कुछ दिनों बाद इनके एक पुत्र हुआ, इन पापियों ने लज्जा के भय से उस बच्चे को पीपल के वृक्ष के नीचे अकेला डाल दिया और आप दूसरी जगह चल दिये, सुलसा की दूसरी बहन "भद्रा" उस अनाथ बच्चे को वहाँ से अपने घर पर ले आई और उसका पालन-पोषण करने लगी। भद्रा ने बच्चे को पीपल के फल को मुँह में लेते हुए देखा था, इसलिए उसका नाम भी उसने पिप्पलाद रख दिया। जब बच्चा कुछ बड़ा हुआ, तब भद्रा ने उसे पढ़ाना आरम्भ कर दिया। कुछ वर्षों में वह पढ़कर अच्छा विद्वान हो गया। एक दिन न जाने बच्चे के दिल में क्या तरंग उठ आई सो उसने भद्रा से पूछा कि "माता! मेरा पिप्पलाद नाम क्यों रक्खा गया? और मेरे पिता कहाँ हैं? मुझे तुम यह सब हाल सुनाओ," भद्रा ने उसका अधिक आग्रह देखकर उसे पहले का सब हाल वैसा का वैसा ही सुना दिया। पिता की इस निर्दयता पर उसे बहुत खेद हुआ, परन्तु फिर भी उसे वह सहन कर गया, केवल उसकी यह इच्छा बनी रही कि किसी तरह पिता को नीचा जरूर दिखाना चाहिए। यह विचार कर वह पिता के पास पहुँचा और बोला कि मुझसे शास्त्रार्थ करिये, याज्ञबल्क्य को भी अपनी विद्या का घमण्ड तो था ही, उस पर भी इस छोटे से लड़के के साथ शास्त्रार्थ करना उसे कोई भारी काम नहीं जान पड़ता था। उसने पिप्पलाद का कहना स्वीकार कर शास्त्रार्थ करना आरंभ किया। परन्तु पिप्पलाद के सामने उसका सब अभिमान दूर हो गया। उसने छोटे से बालक से अपनी पराजय स्वीकार की, अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार पिप्पलाद ने पिता को नीचा दिखाकर बाद में अपनी सारी कथा उसे कह सुनाई। पुत्र की यह हालत देखकर याज्ञबल्क्य बहुत प्रसन्न हुआ। वह उसे गले लगाकर मिला, आज बहुत दिनों बाद फिर पिता ने छोड़े हुए पुत्र का मुँह देखा, इस शास्त्रार्थ में विजय पाने से पिप्पलाद की बड़ी भारी प्रसिद्धि हो गई। वह सब याज्ञिक

ब्राह्मणों में प्रधान गिना जाने लगा। उसी का मैं शिष्य हो गया। गुरुजी ने सब यज्ञकर्म करने की मुझे ही आज्ञा दे रखी थी। उनकी आज्ञानुसार सब कर्म मुझे ही कराने पड़ते थे। यज्ञ में बकरे भी मारे जाते थे। वह भी काम मुझे ही करना पड़ता था। मैंने असंख्य बकरों की जानें लीं इसी पाप से मुझे नरक में जाना पड़ा। वहाँ मैंने बहुत से दुःख भोगे। जब नरकस्थिति पूरी हो चुकी तब वहाँ से निकल कर मैंने बकरे की पर्याय धारणा की। मुझे ब्राह्मणों ने अनेक बार यज्ञ में मारा, अन्त में कुछ ऐसा ही पुण्य कर्म का उदय हो आया जो हुआ तो बकरा ही परन्तु अब की बार मैं इस पुण्य पुरुष के हाथ पड़ गया।

ये लोग रत्नद्वीप को जा रहे थे, रास्ते में एक पर्वत पर पहुँचकर इनके साथ रूद्रदत्त ने छह बकरों को तो वहाँ मार डाला, अन्त में मेरा भी नम्बर आया। पापी रुद्रदत्त ने मेरे गले पर छुरी चला दी, मेरे भाग्य से इस महात्मा की नींद टूट गई। इसने मुझे मारते हुए देखकर उस पापी को बहुत धिक्कारा। उस वक्त मैं प्रायः मर ही चुका था केवल कुछ ही श्वांसोच्छवास बाकी थे। यह देख इस दयालु ने मुझे महामंत्र सुनाया, मेरा भी अच्छा होनहार था, इसी लिए मंत्र के ध्यान में उपयोग लग गया। अन्त में मरकर मुझे देवपद मिला। अवधिज्ञान के द्वारा इस उपकारी का उपकार याद कर मैं इसकी वन्दना करने को आया हूँ। यह विभव का पाना इसी की कृपा का फल है। इसीलिए मैंने इसे अपना आदि गुरु समझ कर पहले वन्दना की है, इसके बाद ही उसका दूसरा । साथी भी बोल उठा कि "चारुदत्त मेरा भी आदि गुरु है। जब मैं रसकूपिका में पड़ा-पड़ा मर रहा था, उस समय इसी पवित्र पुरुष ने मुझे महामंत्र का ध्यान करना सिखाया था। उसी की कृपा से मुझे भी यह पद मिला है, इसलिए ये मेरा असाधारण उपकारी और आदि उपदेशदाता गुरु है। इसलिए हमने पहले इसे नमस्कार किया है। बड़े लोगों का कहना है कि जिसने एक अक्षर अथवा एक पद भी सिखाया है वह भी परम उपकारी है। उसके भी उपकार को जो लोग भूल जाते हैं वे पापी हैं। फिर यह तो पवित्र धर्म का उपदेष्टा है। इसका तो जितना सम्मान किया जाये उतना थोड़ा है।" दोनों देव

अपनी-अपनी कथा सुनाकर चारुदत्त से बोले- "पुण्यपुरुष! हम आपके दास हैं, हमारे लिए कुछ आज्ञा कीजिए, जिसे पालन कर हम अपने जीवन को कृतार्थ करें," यह सुन चारुदत्त ने कहा कि "मैं आप सरीखों को तकलीफ देना अनुचित समझता हूँ, परन्तु हाँ, इतनी प्रार्थना अवश्य करता हूँ कि यदि मुझे अपने मित्रों से आप मिला दें, तो बड़ी कृपा हो," सुनकर उसी समय वे देव चले गये और उन्होंने थोड़ी ही देर में चारुदत्त के मित्रों को लाकर उसके पास उपस्थित कर दिये, वे सब भी चारुदत्त के वियोग से दुःखी हो रहे थे, सो अनायास चारुदत्त को देखकर बड़े ही प्रसन्न हुये। अन्त में देवों ने फिर प्रार्थना की कि "महाभाग! अब आप धन के कमाने की तकलीफ न उठावें। आपको जितने धन की जरूरत है चलिए, चम्पा में आपको उतना ही धन मिल जायेगा।" यह देख सिंहग्रीव ने देवों को रोक दिया और कह दिया कि अब आप अपने स्थान पर जावें इनकी फिकर न करें, इनके लिए सब तरह का आनन्द है। किसी तरह इन्हें तकलीफ न होगी।" सुनकर देव तो अपने स्थान पर चले गये, इधर सिंहग्रीव और वराहग्रीव मुनिराज की वन्दना कर चारुदत्तादि को बड़े महोत्सव के साथ अपने शहर में लिवा लाये, वहाँ उन सभी का उचित आदर सत्कार किया गया, ये लोग भी सुख से फिर वहीं रहने लगे, चारुदत्त ने इसी अवसर में बहुत सी विद्यायें भी सिद्ध कर लीं। उन्होंने चारुदत्त के साथ अपनी-अपनी कन्याओं का विवाह कर दिया। चारुदत्त अपनी बत्तीस स्त्रियों से सुख भोगने लगा।

एक दिन अवसर पाकर सिंहग्रीव ने चारुदत्त से कहा "महाभाग! एक प्रार्थना की जाती है, उसे आप पूरी करें तो बड़ी कृपा हो। प्रार्थना यह है कि मेरे एक परम सुन्दरी कन्या है। वह बीणा बजाने में दूसरी सरस्वती है, उसने यह प्रतिज्ञा कर ली है कि जो मुझे बीणा के बजाने में पराजित कर देगा, मैं उसी के साथ अपना विवाह करूँगी। सो आज तक किसी ने उसे जीत नहीं पाया, इसलिए वह अभी अविवाहित है। मैंने एक अच्छे विद्वान ज्योतिषी से पूछा था कि इसका विवाह किसके साथ होगा? ज्योतिषी ने उत्तर में कहा था

कि चारुदत्त के शहर में जो बीणा बजाने में सुचतुर पुरुष उत्पन्न होगा वही इसका स्वामी होगा। इसलिए हे पूज्य! इसे आप अपने साथ ले जाइये और इसकी प्रतिज्ञा के अनुसार जो इसे बीणा बजाने में जीत ले उसी के साथ इसे विवाह दीजिए।" चारुदत्त ने सिंहग्रीव की प्रार्थना स्वीकार की, जब वह पुत्री को साथ लेकर आने लगा तब उसके साथ बहुत से विद्याधर उसे पहुँचाने को चम्पानगरी तक आये। महाराज विमल वाहन ने जब यह सुना कि चारूदत्त आ गया है तो उन्हें बहुत खुशी हुई वे भी उसकी अगवानी करने को उसके सामने आये। महाराज का अपने लिवाने को आना सुनकर बहुत आनन्दित हुआ और स्वयं भी महाराज के सामने जाकर और अच्छी-अच्छी वस्तु उनको भेंटकर बड़े ही विनय के साथ उनसे मिला । चारुदत्त की भेंट से महाराज बहुत खुश हुए और उसे सुयोग्य समझ कर उनने अपना आधा राज्य चारुदत्त को दे दिया।

महाराज से मिलने के बाद चारुदत्त अपनी दुःखिनी माता और स्त्री से मिलने को घर पर गया, माता अपने बिछुड़े पुत्र को पाकर बहुत सन्तुष्ट हुई। उसने पुत्र को गले लगाया और शुभाशीर्वाद दिया। अपने प्यारे प्राणनाथ को पाकर उसकी स्त्री को जो खुशी हुई वह लेखनी से नहीं लिखी जा सकती। इसका अनुभव उन्हीं पाठक और पाठिकाओं को हो सकता है, जिन्हें वियोग के बाद सुखद सम्मिलन का सुख मिला है।

बसन्तसेना की माता ने चारुदत्त को पाखाने में डाल दिया था और वह वहाँ से चल दिया था। यह हाल जब बसन्तसेना को मालूम हुआ तभी से उसने भी यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि मेरे इस जन्म का स्वामी चारुदत्त ही है। उसे छोड़कर मैं कभी दूसरे की ओर विकार दृष्टि न डालूँगी। सो वह भी चारुदत्त का आना सुनकर बहुत सन्तुष्ट हुई और जितना धन चारुदत्त ने उसे दिया था वह सब लेकर चारुदत्त के यहाँ आ गई। चारुदत्त का सब काम पहले की तरह चलने लगा।

चारुदत्त के साथ जो विद्याधर सिंहग्रीववादिक पहुँचाने को आये थे

सब अपना-अपना कर्तव्य पूरा कर वे अपने-अपने घर की ओर रवाना हुये। चारुदत्त सुखपूर्वक रहने लगा।

कुछ दिन बीतने पर चारुदत्त ने सिंहग्रीव की कन्या का विवाह वसुदेव के साथ कर दिया, वसुदेव ने कन्या को बीणा बजाने में हरा दिया था, कन्या का नाम गन्धर्वसेना था।

चारुदत्त की पटरानी होने का सौभाग्य उसके मामा की पुत्री को मिला, इसके नीचे बसन्तसेना की गणना होने लगी। इनके सिवाय और जितनी स्त्रियाँ थीं उनके भाग्य के अनुसार वे भी चारुदत्त के द्वारा सम्मानित होती थीं। इसी प्रकार बहुत काल पर्यन्त चारुदत्त ने अपनी सभी स्त्रियों के साथ विषय सुख भोगा और बहुत कुशलता से प्रजा पालन किया, एक दिन वह महलों पर चढ़कर प्रकृति की शोभा का निरीक्षण कर रहा था कि इतने में उसे एक बड़ा भारी बादल का टुकड़ा छिन्न-भिन्न होते दीख पड़ा। देखते ही उसे संसार की लीला भी इसी तरह की जँची। वह उसी वक्त सबसे उदासीन हो गया और अपने बड़े पुत्र को राज्यभार देकर बहुत से राजाओं के साथ-साथ उसने पवित्र जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। पश्चात् वह कठिन से कठिन तपश्चरण कर सर्वार्थसिद्धि में जाकर देव हुआ।

भाईयो! विचारो, चारुदत्त की एक वक्त क्या हालत थी और उसका घर कैसा था? परन्तु जब से वह वेश्या के जाल में बिद्ध हुआ तब से उसकी कैसी दशा हो गई थी, उसे याद करो, चारुदत्त ने असह्य दुःख भोगे। उसे पाखाने में गिरना पड़ा। मैं नहीं जानता कि इससे भी बढ़कर अन्य कोई दुःख होगा। यह वेश्या, धनी से प्रेम करती है। वह भी केवल दिखावा, वास्तविक प्रेम तो वह स्वप्न में भी किसी से नहीं करती है। बुद्धिमानों! इस प्राण-घातिनी के संग का परित्याग कर दो। यह विष की बेल है। अपवित्रता की भूमि है। धर्म और धनादि की नाश करने वाली है। सुयश-लता का मूलोच्छेदन कर डालने वाली है। जैसे कुत्ता हड्डी के टुकड़े को चबाता है और उसी की नोकों से उसके मुँह से खून निकलने लगता है, यद्यपि वह खून है उसी का है, परन्तु

वह भ्रम से हड्डी के टुकड़े में से खून को निकला हुआ समझ कर उस टुकड़े को बड़ी रुचि के साथ खाने लगता है। ठीक यही हालत वेश्याओं के सेवन करने वालों की है।

जो लोग मद्य, मांस के नहीं खाने वाले हैं उन्हें तो इन पापिनी वेश्याओं का संग भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि इनकी संगति में नियम व्रत और सत्यता आदि उत्तम गुण सुरक्षित नहीं रहने पाते।

वेश्याओं के सेवन से धर्म और सुखादिक का मूल से नाश हो जाता है। इसलिए बुद्धिमानों! वेश्याओं के सेवन का परित्याग करो। जो धर्मात्मा पुरुष इस पाप व्यसन का परित्याग कर जिन भगवान के द्वारा उपदेशित और दयामयी जिनधर्म को धारण करते हैं वे संसार में सबके सत्कार पात्र होकर चन्द्रमा की तरह उज्जवल सुयश के भोगने वाले होते हैं।

।।इति चतुर्थः परिच्छेदः।।

धनकारन पापिनि प्रीति करै, नहिं तोरत नेह जथा तिनकौं।
लबचाखत नीचन के मुँह की, शुचिता कब जाय छियैं जिनकौं।।
मद मांस बजारनि खाय सदा, अँधले विसनी न करैं घिनकौं।
गनिका सँग जे सठ लीन भये, धिक है धिक है धिक है तिनकौं।।

(जिनशतक)

पांचवी शिकार-व्यसन कथा

राजा श्रेणिक ने गणधर भगवान से पूछा- कि "स्वामी! शिकार के खेलने से किसने दुःख उठाये हैं? उसकी कथा सुनाइये," भगवान ने यों कहना आरंभ किया-

"श्रेणिक! शिकार खेलने से दुःख तो बहुतों को भोगने पड़े हैं परन्तु उन सबमें ब्रह्मदत्त अधिक प्रसिद्ध हुआ है। उसी की कथा तुम्हें सुनाई जाती है। ध्यान देकर सुनना, इस कथा के द्वारा भी बहुतों का भला हो सकेगा।"

अवन्ती देश के अर्न्तगत एक उज्जयिनी नगरी है। उसके राजा का नाम था ब्रह्मदत्त। ब्रह्मदत्त को शिकार खेलने की जितनी अधिक रुचि थी उससे भी कहीं अधिक उसे धर्म के पालन में अरुचि थी। जब वह शिकार करने को जाता और उसे शिकार मिल जाता तो बड़ा खुश होता और यदि शिकार न मिलता तो उतना ही दुखी होता। इसी प्रकार राज्य का पालन करते-करते उसे बहुत दिन बीत गये। एक दिन की बात है कि जब वह शिकार करने को गया तो उसे किसी वन में एक मुनि के दर्शन हो गये। मुनि एक पत्थर की शिला पर ध्यान में निमग्न बैठे हुये थे। मुनि के प्रभाव से उस दिन ब्रह्मदत्त को शिकार न मिला। वह अपने घर पर लौट गया, दूसरे और तीसरे दिन भी वह शिकार करने को गया परन्तु फिर भी उसे शिकार न मिला। यह देख ब्रह्मदत्त मुनिराज पर बड़ा क्रोधित हुआ। उसने बदला लेने के लिए दारुण कर्म करना आरम्भ किया। वह यह कि एक दिन की बात है कि मुनिराज तो शहर में आहार करने को गये और इधर ब्रह्मदत्त ने आकर मुनिराज के ध्यान करने की शिला को अग्नि की तरह गर्म करवा दी। मुनिराज आहार करके वापिस आये और ध्यान करने को उसी शिला पर बैठ गये। बैठते ही उनका शरीर जलने लगा, असह्य वेदना होने लगी, परन्तु तब भी मुनिराज उस पर से

न उठे और घोरतर उपद्रव सहते रहे। अन्त में अपनी ध्यानरूप अग्नि से कर्मों का नाशकर और अन्तःकृत केवली होकर वे अविनश्वर धाम में जा बसे। देवों ने आकर उनके इस आलौकिक धैर्य की प्रशंसा की और उनका यशोगान करते हुए वे अपने स्थान पर चले गये।

इधर सात दिन भी न बीतने पाये थे कि इस घोर पाप कर्म के उदय से ब्रह्मदत्त के सारे शरीर में कोढ़ निकल आया। उसे उसकी इतनी अधिक पीड़ा होती थी कि कहीं एक जगह बैठना तक उसके लिए कठिन हो गया था। जब उसने देखा कि अब इस रोग की निवृत्ति होना सहज नहीं दीखता, तब दुःखी होकर अपने शरीर को अग्नि में डाल दिया। इस आर्तध्यान से मरकर ब्रह्मदत्त सप्तम नरक में गया। सच है नरक के सिवाय पापियों को कहीं स्थान नहीं मिलता है। नरक में उसने तैंतीस सागर पर्यन्त छेदन, भेदन, यंत्रों के द्वारा पिलना और अग्नि में जलना आदि कठिन से कठिन दुःख भोगे। वहाँ से निकलकर सर्प, व्याघ्र, कुक्कुट, कुत्ता, अजगर और गधे आदि बुरे से बुरे जीवों की पर्यायें उसने धारण कीं और क्रम-क्रम से अन्य सब नरकों में भी वह गया। बहुत से दुःख सहे, जिनका उल्लेख करना भी असंभव है।

अब की बार कुछ पाप का बोझा हल्का हो जाने से उसने हस्तिनापुर में किसी धीवर के यहाँ कन्या की पर्याय धारण की। जब कन्या पैदा हुई तब उसका सारा शरीर दुर्गंध के मारे नाकों दम किये देता था। यह देख उसके माता-पिता ने उसे किसी जंगल में डाल दी। देव की लीला विचित्र है, जो वह अनाथिनी होकर भी किसी तरह पलकर धीरे-धीरे बढ़ने लगी। लोग अब भी उससे बड़ी घृणा करते थे। वह बेचारी जब कुछ बड़ी हो गई, तब उसने अपने पेट भरने के लिए एक छोटी सी नाव बनवा ली और नदी के किनारे पर ही एक झोंपड़ी बनाकर वह उसी में रहने लगी जो लोग नदी के पार उतरते, उन्हें नाव में बैठाकर वह पार करा देती और जो वे देते उसी के द्वारा अपना पेट भरती थी।

एक दिन वह अपनी झोंपड़ी में बैठी हुई थी कि इतने में उसके सामने

से एक आर्यिकाओं का संघ निकला। संघ को देखकर न मालूम उसके दिल में क्या बात उत्पन्न हो गई जिससे वह घर से निकल कर वहीं पर पहुँच गई जहाँ संघ जाकर ठहरा हुआ था। संघ की प्रधान आर्यिका को उसने नमस्कार किया। उस आर्यिका का नाम था कल्याणमाला। उसने कन्या की बुरी हालत देखकर पूछा- तू इतनी दुखी क्यों है? उत्तर में कन्या ने कहा "माता! मैं कर्मों की मारी मरी जाती हूँ। तुम मुझे अब वह उपाय दया करके बाताओ कि जिससे मैं दुःखों से छूट सकूँ। मुझे तुम जो उपाय बताओगी मैं उसे सहर्ष स्वीकार करूँगी।" उसके कहे अनुसार आर्यिका ने उसे अणुव्रतों के ग्रहण करने को कहा। कन्या ने भी उसी वक्त उन्हें ग्रहण कर लिये और बाद में आर्यिका के ही साथ वह चल दी। आर्यिका वहाँ से चल कर राजगृह नगर जाने को रवाना हुई। चलते-चलते रात हो जाने से आर्यिका तो अपने संघ को लेकर किसी पर्वत की गुहा में चली गई। परन्तु भाग्य से बेचारी कन्या को पर्वत के बाहर ही रहना पड़ा। कन्या सोती हुई थी कि एकाएक एक सिंह ने आकर उसे खा डाला, कन्या अच्छे परिणामों से मरकर राजगृह में एक सेठ की पुत्री हुई। सेठ का नाम कुबेरदत्त था। भाग्य से वह कन्या हुई तो बड़ी सुन्दरी, परन्तु रही पहले की तरह दुर्गन्धा ही। बेचारे सेठ को इस बात का बड़ा ही दुःख था परन्तु कुछ कर नहीं सकता था। सच है बुद्धिमानों को कन्या के होने से दुःख ही उठाने पड़ते हैं।

एक दिन उधर से श्री श्रुतसागर मुनि आ निकले। सब शहर के लोग उनकी वन्दना करने को गये। कुबेरदत्त भी अपनी कन्या को साथ लेकर मुनिराज के पास आया और उनकी वन्दना कर वहीं पर बैठ गया। समय पाकर उसने मुनि से प्रार्थना की कि "स्वामी! यह कन्या सुन्दरी होने पर भी दुर्गन्धा क्यों है? आप कृपा कर कहो!" मुनिराज बोले, "यह जीव जैसे कर्म करता है उसके अनुसार उसे दुःख भी उठाने पड़ते हैं? इस कन्या के जीव ने पहले जन्म में एक मुनि को जला दिया था उसी का यह फल है जो इस जन्म में भी इसे दारुण दुःख भोगना पड़ा है। इसने उस पाप से कितने दुःख भोगे हैं

उनका उल्लेख करना कठिन है।" कन्या अपने जन्म का हाल सुनकर बहुत दुःखी हुई और रोकर मुनि से बोली कि "नाथ, हाय! कहाँ तो मेरा वह राजकुल में जन्म और कहाँ अब यह अपवित्र स्त्री पर्याय? स्वामी! मुझे नरकों में जो दुःख भोगने पड़े हैं वे सब आज मेरी आँखों के सामने नृत्य कर रहे हैं। यह आपकी कृपा है जो मुझे जाति स्मरण हो गया। उससे मुझे यह अच्छी तरह ज्ञात हो गया कि पाप का फल कैसा भयानक होता है? अब मुझे आप कुछ व्रत धारण करवाइये जिससे आगामी दुःख न उठाने पड़ें और उत्तम गति की प्राप्ति हो।" उसके कहे अनुसार मुनि ने उसे षट्रसत्याग व्रत का उपदेश दिया और कहा कि इस व्रत के द्वारा स्त्रीलिंग नष्ट होकर स्वर्ग में देव पदवी मिलती है और फिर धीरे-धीरे मोक्ष प्राप्त हो जाता है। कन्या बोली कि "नाथ! यदि ऐसा है तो मुझे इस व्रत का स्वरूप भी समझा दीजिए।" मुनिराज कहने लगे कि "पुत्री! आरम्भ में तो एक महीने तक प्रतिदिन एक-एक रस छोड़ना चाहिये और एक ही स्थान पर बैठकर अपनी शक्ति के माफिक एक वक्त अथवा दो वक्त भोजन करना चाहिए। इसी प्रकार छह महीने तक करने से यह व्रत पूर्ण होता है। जब व्रत पूर्ण हो जाये, तब जिन मन्दिर बनवाकर उसकी प्रतिष्ठा करवानी चाहिए अथवा गुरु की आज्ञा के अनुसार विद्यादान आदि किसी धर्म कार्य में धन खर्च करना उचित है। अन्त में मण्डल मडवाकर श्री शान्ति विधान और अभिषेक आदि करवाना चाहिए और इसी समय छहों रसों का विशेष रूप से त्याग करना चाहिए और भाग्यानुसार जैसा कुछ भोजन मिले उसे ही सन्तोष पूर्वक कर लेना चाहिए वह यह कि जब भोजन करने लगे तब उसके पहले भोजन के अष्टांश से देव, गुरु और शास्त्र की पूजन करके गुरुओं की आज्ञा ले ले तब भोजन करें। पुत्री! इस व्रत के करने से कुछ तकलीफ जरूर होती है परन्तु वह इसके भावी फल का विचार करने पर कुछ भी नहीं जान पड़ती। इसलिए सश्रद्धा इस व्रत को स्वीकार कर। संसार के दुःखों से डरने वाले पुरुषों को तो यह व्रत सर्वथा ग्रहण करना चाहिए।" मुनिराज के कहे अनुसार कन्या व्रत को धारण कर घर पर गई और उसका

यथाविधि पालन करने लगी। जब व्रत पूरा हुआ, तब उसका उद्यापन भी खूब धन लगाकर किया। वह आयु के अन्त में मरकर स्वर्ग में देव हुई। वहाँ उसने बहुत काल पर्यन्त उत्तम-उत्तम सुख भोगे और पश्चात् वह स्वर्ग से चयकर पटना के महाराज शक्तिसिंह के वज्रसेन नाम का पुत्र हुआ। बड़े होने पर महाराज ने अपना राज्य का सब भार उसी के अधीन कर दिया और आप जिनदीक्षा लेकर तपस्वी हो गये। उसके बाद कुछ दिनों तक तो वज्रसेन ने भी पुत्र पौत्रादि के साथ राज्य सुख भोगा किन्तु अन्त में वह भी संसार से उदासीन हो गया और जिनदीक्षा लेकर तपश्चर्या करने लगा और फिर कुछ ही दिनों में ध्यान के बल से कर्मों का नाश कर मोक्ष में जा बसा।

"श्रेणिक! देखा न? जिसकी एक वक्त शिकार के खेलने से बड़ी बुरी दशा हुई थी वही ब्रह्मदत्त व्रत के प्रभाव से अब मोक्ष का सुख भोग रहा है। जो सर्व साधारण के लिए बड़ा ही साध्य है। बुद्धिमानों! इस जीव संहारी कर्म को छोड़ो। इस निर्दय व्यसन के द्वारा जो नरकादि कुगति में दुःख उठाने पड़ते हैं उनकी तो हम चर्चा ही छोड़ देते हैं। परन्तु प्रत्यक्ष में भी यदि आप देखेंगे तो आपको जान पड़ेगा कि शिकार खेलने वालों का हृदय बड़ा ही कठोर और निर्दय होता है, उनकी आँखों से सदा क्रोध की चिनगारियाँ छूटा करती हैं, बुद्धि उनकी बड़ी क्रूर होती है और हर समय उनके हृदय में पाप वासनायें जागृत रहती हैं। बहुत से लोग शिकार खेलने को बड़ी वीरता का काम बताते हैं परन्तु यह उनकी केवल स्वार्थान्धता है। भला! जिसमें विचारे निरपराध जीवों का सर्वनाथ संहार किया जाता है वह वीरता का काम कैसे कहा जा सकता है?

सभी यह बात अच्छी तरह जानते हैं कि एक जरा से काँटे के लग जाने से अत्यन्त दुःख होता है। परन्तु खेद है कि वे पापी लोग फिर भी इस भयानक कर्म के करने से बाज नहीं आते। भाईयों! यदि अपना और दूसरों का भला चाहते हो यदि कुछ भी तुम में दया है और इस पवित्र मानव जीवन को निर्दोष और शान्ति सुख का ध्यान बनाना चाहते हो तो हृदय से क्रूर वृत्ति

को निकाल कर बाहर फेंक दो इसी में हित है।

श्री वीर भगवान का शान्त और परम दयामय धर्म तुम्हारे हित का उपदेशक है, जिसके धारण करने की पूर्ण कोशिश करो, यही परम सुख का साधन है।"

।।इति पंचमः परिच्छेदः।।

काननू में बसै ऐसौ आन न गरीब जीव, प्राननसौ प्यारौ प्रान पूंजी जिस यहै है।
कायर सुझाव धरै काहूसौं न द्रोह करै। सब ही सौं डरै दांत लिये तृन रहै है।।
काहू सौं न रोष पुनि काहूपै न पोष चहै, काहू के परोष परदोष नाहिं कहै है।
नेकु स्वाद सारिवेकौं ऐसे मृग मारिवेकौं, हा हा रे कठोर तेरा कैसैं कर बहै है।।

(जिनशतक)

छठी चौर्य-व्यसन कथा

श्री गौतम गणधर को नमस्कार कर राजा श्रेणिक ने नम्रता से पूछा कि "स्वामी! चोरी करने में किसने दुःख भोगे हैं? उसकी कथा कहिये।" गणधर ने कहा श्रेणिक! तुमने यह प्रश्न बहुत अच्छा किया। चोरी के करने से दुःख तो बहुतों को उठाने पड़े हैं परन्तु सब में अधिक प्रसिद्ध शिवभूति हुआ है। इसलिए उसी की कथा तुम्हें कही जाती है। इस कथा में यह बात खुलासा पूर्वक बतलाई जायेगी कि शिवभूति ने किस तरह तो चोरी की और उसे इससे किस तरह का दुःख उठाना पड़ा है। तुम ध्यान से इस उपाख्यान को सुनो क्योंकि कथाओं का सुनना भी धर्म प्राप्ति का कारण है।"

भारत वर्ष के अर्न्तगत बनारस शहर है, उसके राजा का नाम है जयसिंह। जयसिंह की गुणवती रानी का नाम था जयवती। राजा के यहाँ एक पुरोहित रहता था, उसका नाम शिवभूति था। शिवभूति बड़ा सत्यवादी था, प्रायः इससे उसकी प्रसिद्धि हो गई थी। वह वेद-शास्त्र का भी बहुत अच्छा विद्वान था। उसके यज्ञोपवीत में हर समय एक छुरी बंधी रहती थी। वह इसलिए कि "मैं कभी झूठ नहीं बोलूँगा। यदि कभी मेरे मुँह से झूठ निकल जावेगा तो उसी समय मैं अपनी जीभ को इसी छुरी से काट डालूँगा।" इस प्रतिज्ञा के कारण लोग उसे सत्यघोष भी कहा करते थे। राजा इसे सत्यवादी समझ कर इसका बहुत सम्मान करता था। इसी विश्वास के कारण लोग इसके यहाँ अपना अमानत धन रख जाया करते थे।

एक दिन पद्मपुर का सेठ धनपाल बनारस आया उसने वहाँ के लोगों से पूछा कि "मुझे अपना धन अमानत रखना है, उसे किसके यहाँ रक्खूँ? जिससे मुझे फिर दुःख न उठाना पड़े।" लोगों ने कहा- "तू बड़ा विवेक रहित है, क्या आकाश से तो नहीं गिरा है, जो महाराज के पुरोहित को नहीं

जानता? वह बड़ा ही सत्यवादी है। उसके यहाँ धन रखने से तुझे कोई हानि नहीं उठानी पड़ेगी।" धनपाल लोगों के कहे के माफिक सत्यघोष के पास गया और पुरोहित महाराज ने भी सेठ का उचित आदर कर उससे पूछा "आप किस लिए यहाँ आये हैं? कुछ सेवा हो तो कहिये? उसे करने को मैं सर्वथा तैयार हूँ।" उत्तर में सेठ ने कहा- "महाराज! मुझे कहीं दूसरे देश जाना है। मैं अपना सब धन साथ ले जाना उचित नहीं समझता। क्योंकि मालूम नहीं क्षण भर में क्या हो जाये और फिर मुझे दुःख में दिन काटने पड़ें। इसलिए मैं आपकी सेवा में आया हूँ। मेरे पास चार रत्न हैं, उनकी कीमत पाँच करोड़ की है। सो इन्हें वस्त्र में बाँधकर आपको सौंपे देता हूँ। आप सावधानी से इनकी रक्षा करें। यदि देवयोग से कदाचित मुझे धनहानि उठानी पड़े तो फिर मैं इनके द्वारा अपनी जीवन यात्रा अच्छी तरह निर्वाह कर सकूँ। महाराज! ध्यान रहे मेरी आगे की जीवन लीला इन्हीं पर निर्भर है।" उत्तर में पुरोहित जी बोले, "सेठ साहब! अपने रत्नों को आप ही संदूक में रख दीजिए। क्योंकि जितने महाशय मेरे यहाँ अपना धन रखने को आते हैं, वे सब अपने ही हाथों से सन्दूक में रख जाते हैं और जब पीछे लेने को आते हैं, तब अपने ही हाथों से निकाल ले जाते हैं।" धनपाल पुरोहित जी के कहे माफिक उनकी सन्दूक में अपने रत्नों को रखकर आप व्यापार के लिए रवाना हो गया।

धनपाल बारह वर्ष तक बाहर रहा और वहाँ उसने व्यापार करके बहुत धन कमाया, जब वह जहाज के द्वारा अपने देश की ओर लौट रहा था तब रास्ते में देव दुर्विपाक से उसका जहाज टक्कर खाकर टुकड़े-टुकड़े हो गया। धनपाल का धन तो जहाज के साथ ही समुद्र में डूब गया, परन्तु उसे एक लकड़े का टुकड़ा हाथ लग गया। उसके सहारे वह बेचारा कठिनाइयों को उठाता हुआ मुश्किल से समुद्र के किनारे पहुँच कर अपने शहर में आ गया। जिन मन्दिर में जाकर उसने भगवान के दर्शन किये और दो दिन तक वहीं ठहर कर वह तीसरे दिन पुरोहित महाराज के पास पहुँचा।

पुरोहित जी ने उसे आता हुआ देखकर एक चाल चली और आप

झट से नाक के आगे हाथ रखकर अपने पास बैठे हुए लोगों से बोल उठा कि "शकुन के द्वारा जान पड़ता है कि आज कोई भारी कलंक मुझे लगेगा।" बेचारे भोले लोगों ने उनके हृदय के पाप को न जानकर कहा "महाराज! आप बड़े सत्यवादी हैं। भला आपको कैसे कलंक लग सकता है?" लोग यह कह ही रहे थे कि इतने में फटे कपड़े पहने हुए धनपाल वहीं आ उपस्थित हुआ और दूर ही से प्रणाम कर पुराहित जी के सन्मुख बैठ गया। जब पुराहित जी ने उसे बेचारे दुःख के मारे हुए की ओर दृष्टि तक न डाली। तब तो उसे स्वयं पुरोहित जी से बोलना पड़ा। "महाराज! मैं आपसे कहकर समुद्र यात्रा करने को गया था। परन्तु देव दुर्विपाक से जहाज नष्ट हो गया और मेरी यह दुर्दशा हुई है। इसलिए मुझे आपके पास आना पड़ा है। आप मेरी अमानत रखी वस्तु दे दीजिए। कुछ सुने की तरह पुरोहित जी ने कहा "समुद्र में जहाज डूबने से यह दशा हुई? अस्तु देव की गति विचित्र है, मालूम होता है तुझे कुछ जरूरत है अच्छा ठहर, कुछ दान दिलवाये देता हूँ। जिससे तू फिर अपना प्रबन्ध कर लेना," पुरोहित का कहना सुनते ही सेठ महाशय का रहा सहा धैर्य भी जाता रहा। बड़ी ही मुश्किल से वह बोला कि "पुराहित जी! आप क्या कहते हैं? मुझे आपके दान की जरूरत नहीं है। आप तो मेरे रक्खे हुए रत्नों को ही दे दीजिए। आपकी कृपा का मैं बड़ा ही आभारी होऊँगा। क्योंकि इस वक्त मैं बड़ी भारी आपत्ति से बचकर आया हूँ।" रत्नों का नाम सुनते ही पुरोहित जी के कपट क्रोध का कुछ ठिकाना न रहा, वे लाल-लाल आँखें करके बोले "देखो! यह कैसा झूठ बोल रहा है, मैंने अभी ही तुम लोगों से कहा था कि आज का दिन मेरे लिए अच्छा नहीं है। वही हुआ ।" लोगों ने भी हाँ में हाँ मिलाकर कह दिया कि "महाराज! बेचारे का सब धन नष्ट हो गया है, इसी से यह विक्षिप्त सा दीख पड़ता है। क्योंकि धन के नष्ट हो जाने से बुद्धि ठिकाने पर नहीं रहती। नीतिकारों ने यह बहुत ठीक कहा कि जिसका धन नष्ट हो जाता है, उसके सभी गुण नष्ट हो जाते हैं।"

बेचारे धनपाल को सभी ने विक्षिप्त कहकर घर के बाहर निकलवा

दिया, यह देख उससे सभी घृणा करने लगे। शहर के लोगों ने उसे विक्षिप्त कह कर उसकी अवहेलना की। धनपाल राजा के पास दौड़ा गया और उसने अपनी कथा राजा से कह सुनाई। परन्तु उसका भी कुछ फल न निकला, सब उसे ही विक्षिप्त बताने लगे। बेचारा धनपाल बड़ी चिन्ता में पड़ा। एक तो उसका सब धन नष्ट हो गया और दूसरे उसे ही सब बुरा कहने लगे, वह अपने निर्वाह का कुछ उपाय न देखकर जिन मन्दिर में ही रहने लगा। जो श्रावक इसे भोजन के लिए लिवा ले जाते, उन्हीं के यहाँ यह भोजन कर आया करता था और मन्दिर में रहा करता था। किसी ने इसके कहने का विश्वास न किया किन्तु उल्टा इसे ही सब लोग दोषी बताने लगे। अन्त में जब इसे अपने छुटकारे का कोई उपाय न दीख पड़ा, तब उसे एक युक्ति सूझी। वह यह कि जब आधी रात होती, तब यह जिन मन्दिर से निकल राजा के महल के पीछे जाता और वहाँ एक वृक्ष के ऊपर चढ़कर बड़े जोर से चिल्लाता कि " "महाराज! आप धर्म और अधर्म के विचार करने वाले हैं। आपको मेरी प्रार्थना पर ध्यान देना चाहिए, कारण जो लोग दुर्बल होते हैं, उन्हें अपने महाराज का ही भरोसा रहता है, महाराज! आप दयालु हैं आपको दीन-दुःखियों पर कृपा करनी चाहिए, जरा मेरी भी प्रार्थना पर ध्यान दीजिए। महाराज! जब मैं समुद्र यात्रा करने को गया था, तब आपके लोभी पुरोहित के पास पाँच करोड़ की लागत के चार रत्न अमानत रख गया था। उन्हें अब पुरोहित जी देते नहीं हैं। आप मेरे रत्न मुझे दिलवा दीजिए।" इसी तरह प्रतिदिन वह चिल्लाने लगा, ऐसा करना उसका प्रतिदिन का नियम सा हो गया, ऐसा करते-करते उसे बहुत दिन बीत गये।

एक दिन की बात है कि अवसर पाकर जयसिंह की रानी जयावती ने अपने स्वामी से कहा कि "प्राणनाथ! देखो, बेचारा यह दरिद्री रोज इसी तरह चिल्लाया करता है, आपको कुछ तो इसके विषय की जाँच करनी चाहिए।" महाराज ने यह कहकर कि "यह विक्षिप्त हो गया है," रानी के कहने पर कुछ ध्यान नहीं दिया। महारानी फिर बोली "आप नाहक इसे विक्षिप्त कहते हैं।

नहीं जाना जाता कि इसमें विक्षिप्त होने की क्या बात है? मुझे तो यह गल्ती आप ही की दीख पड़ती है, जो इसके न्याय की ओर आपका लक्ष्य ही नहीं जाता।" उत्तर में महाराज बोले, "यही सही। यदि तुम इसे निर्दोष समझती हो तो इसके विचार का भार भी मैं तुम्हें ही सौंपे देता हूँ। तुम इसका ठीक-ठीक निर्णय करो कि वास्तव में अपराधी कौन है?" महाराज की यह बात महारानी ने स्वीकार की और इस विषय की परीक्षा का भार अपने ऊपर लेकर वह महाराज से बोली कि "एक बात आपको करनी होगी, वह यह कि अभी आपको कहीं जाना नहीं चाहिये।" महारानी के कहे अनुसार महाराज वहाँ से न जाकर अन्तःपुर में ही ठहरे रहे। महारानी ने महाराज से जुआ खेलना आरम्भ किया। इतने में वहीं पर पुरोहित जी महाराज भी पहुँच गये और आशीर्वाद देकर तिथि पत्र का पाठ करने लगे। जब अपना पाठ पूरा कर चुके, तब महारानी ने उनसे कहा आईये "महाराज! आज तो आप भी हमारे साथ खेलिये," सुनकर पुरोहित जी बोले "महारानी जी! भला यह कैसे हो सकेगा? मैं क्षुद्र पुरुष आपके साथ कैसे खेल सकता हूँ?" महारानी बोली- "वाह! आपने यह अच्छा कारण बतलाया, क्या पिता पुत्री के साथ नहीं खेल सकता?" महाराज ने भी महारानी के वचनों का समर्थन कर कह दिया कि "पुरोहित जी खेलिये, इसमें क्या दोष है?" महाराज के आग्रह से बिचारे पुरोहित जी को खेलना ही पड़ा। खेलते-खेलते महारानी ने अपनी चतुरता से पुरोहित जी के द्वारा गतदिन के भोजन का सब हाल जान लिया। बेचारे पुरोहित जी को इतनी अकल कहाँ जो रानी के आशय को समझ जायें। इसी से उन्होंने घर की सब बातें रानी से कह दीं, इसके बाद जयवती ने ये सब बातें नेत्र के इशारे से अपनी दासी को समझा कर उसे पुरोहित जी के मकान पर भेजा। दासी ने पुरोहित जी के घर जाकर वे सब बातें उनकी स्त्री से कह सुनाई और उन रत्नों को उससे मांगे, जो पुरोहित जी ने धनपाल के रख लिए थे। वह बिगड़ कर बोली कि "चली जा यहाँ से, मेरे पास कोई रत्न नहीं है" दासी ने जाकर यह हाल अपनी स्वामिनी से कह दिया।

जयवती ने अपनी युक्ति का उपयोग न निकला देख कर दूसरी युक्ति निकाली, वह पुरोहित जी से बोली कि "महाराज! अब ऐसा कीजिए कि यदि आप मुझे खेल में हरा देंगे, तब तो मैं अपनी अंगूठी आपको दे दूँगी और यदि आप हार जावेंगे तो आपको अपनी अंगूठी मुझे देनी होगी। पुरोहित जी ने लोभ में आकर यह स्वीकार कर लिया और अब वे वास्तविक हार जीत के साथ खेलने लगे। पहली ही बार पुरोहित जी से महारानी ने अंगूठी जीत ली और उसे गुप्त रीति से अपनी दासी के हाथ देकर पुरोहित जी के घर पर भेजी। दासी ने जाकर वह अंगूठी पुरोहित जी की स्त्री को दिखाई और कहा कि "अब तो तुम्हें मेरा विश्वास हुआ कि मुझे पुरोहित जी ने ही भेजा है। जल्दी से रत्न दे दो। रत्नों को तुम्हारे स्वामी ने मंगाया है," फिर भी ब्राह्मणी ने दासी को रत्न न दिये, दासी ने आकर रत्न के न देने का हाल अपनी स्वामिनी से कह दिया।

अब की बार जयवती ने पुरोहित जी के गले का हार जीत लिया और उसे दासी को देकर फिर ब्राह्मणी के पास भेजी। दासी ने जाकर कहा कि "देख पुरोहित जी ने यह हार की निशानी देकर मुझसे कहलवाया है कि मैं बड़े संकट में फँस गया हूँ। यदि मुझे जीता देखना चाहती हो तो हार के देखते ही रत्नों को दे देना।" ब्राह्मणी थी तो स्त्री ही न? वह क्या जानती थी कि असली बात क्या है? अस्तु, घर में जाकर रत्नों को ले आई और उन्हें उसने हार लाने वाली के हाथ में दे दिये। दासी ने जल्दी से जाकर रत्नों को महारानी के हाथ में दे दिये। महारानी ने रत्नों को लेकर खेलना तो बन्द किया और जो पुरोहित जी की अंगूठी और हार जीता था, वह वापिस पुरोहित जी को देकर उनसे कहा, बस, "महाराज! अब समय अधिक हो गया है खेलना बन्द कीजिए।" महारानी के कहते ही खेल बन्द हुआ। इसके बाद महारानी ने उन रत्नों को गुप्त रीति से अपने स्वामी को दे दिया और आप वहाँ से विदा हुई।

महारानी के चले जाने पर पुरोहित जी से महाराज ने पूछा- "पुरोहित जी! हाँ, यह तो कहिये कि चोरी करने वाले को शास्त्रों में क्या दण्ड देना लिखा

है?" सुनते ही सत्यघोष महाराज बोल उठे कि "महाराज! या तो उसे शूली पर चढ़ाना चाहिए अथवा अच्छे तीखे शस्त्र से उसके टुकड़े-टुकड़े करवा देना चाहिए। ऐसा न करने पर इस पाप का भागी राजा को होना पड़ता है।" महाराज ने फिर कहा "यदि चोर इस योग्य न हो तो, उसका क्या किया जाये?" पुरोहित जी बड़ी बेपरवाही के साथ कहने लगे कि "महाराज! चोर कैसा ही क्यों न हो, उसे नियम से उपर्युक्त दण्ड देना उचित है। इस पर महाराज ने अधिक न कहकर वे चारों रत्न पुरोहित जी के सामने रख दिये और कहा कि "पापी! द्विजकुलकलंक!! कह तो सही, अब इस पाप का तुझे क्या दण्ड देना चाहिए? तू ने बेचारे भोले पुरुषों को इसी तरह धोखा दे देकर ठगा है, नहीं तो इतना धन तेरे पास कहाँ से इकट्ठा हो जाता? मैंने तेरी दुष्टता का अभी तक पता न पाया था। सच है जो लोग छिपकर बुरा काम करते हैं वे सहसा दूसरों को अपना हाल जानने नहीं देते हैं। महारानी बड़ी बुद्धिमती और विदुषी है, जो उसने आज तेरा सब पाप प्रगट कर दिया नहीं तो न मालूम अभी और कितने पुरुष तेरे शिकार बनते। अब यह जल्दी कह दे कि इस पाप का क्या प्रायश्चित तुझे दिया जावे?" पुरोहित जी रत्नों को देखते ही चित्राम के लिखे से हो गये, उनका मुख कन्तिहीन हो गया, सच है जब छिपे पाप प्रगट होते हैं तब जीवों की यही हालत हुआ करती है।

महाराज बोले- "पुरोहित जी! आपको शूली का सुख तो अभी दिलवा देता, परन्तु आपने ब्राह्मण कुल में जन्म लिया है, इसलिए इस कठोर दण्ड से आपकी रक्षा की जाती है और यह कहा जाता है कि मेरे यहाँ चार मल्ल हैं, सो या तो उन प्रत्येक के हाथ की चार-चार मुक्कियों की मार सहो अथवा तुम्हारे सामने एक गोबर की एक थाल रखी जाती है उसे तुम खा जाओ। यदि यह भी मंजूर न हो तो अपना सब धन मेरे सुपुर्द करो और तुम यहाँ से कहीं निकल जाओ।"

अपने लिए दण्ड की योजना सुनकर पुराहित जी ने कहा "महाराज! मैंने अपना धन बड़े क्लेश से कमाया है, उसे मैं नहीं दे सकता। हाँ गोबर की

थाल रखिये, उसे खाऊँगा।" पुरोहित जी के कहे माफिक गोबर मंगाकर उनके सामने रक्खा गया, परन्तु जब उसका वे एक ग्रास भी न खा सके तब फिर बोले "महाराज! यह नहीं खाया जा सकता। आप अपने मल्लों को बुलवाइये, मैं उनकी मुक्कियाँ सहूँगा।" मल्ल बुलवाये गये और उन्हें पुरोहित जी को चार-चार घूँसे लगाने की आज्ञा दी गई। मल्लों ने निडर होकर पुरोहित जी को मुक्के लगाने आरम्भ किये। घूँसों की मार पूरी भी न हो पाई थी कि बीच ही में पुरोहित जी के प्राण निकल गये। पाप का उचित प्रायश्चित उन्हें मिल गया। इसके बाद महाराज ने पुरोहित का जितना धन था वह भी सब जब्त कर लिया और उनकी स्त्री को भी देश से निकाल बाहर किया। पुरोहित जी ने आर्तध्यान से मरकर महाराज के खजाने पर ही सर्प की पर्याय धारण की।

इसके बाद महाराज ने धनपाल को बुलवाया। वह बुलवाते ही राज सभा में उपस्थित हुआ और नमस्कार कर महाराज के सामने बैठ गया। महाराज ने उन चारों रत्नों को बहुत से रत्नों में मिलाकर धनपाल से कहा कि "क्या तुम अपने रत्नों को पहचानते हो? और यदि पहचानते हो तो इन रत्नों में से अपने रत्नों को पहचान कर निकाल लो।" महाराज के कहते ही धनपाल ने उन सब रत्नों में से अपने रत्नों को पहचान कर और वे महाराज को दिखला दिये, यह देख महाराज ने धनपाल की बुद्धि की बहुत प्रशंसा की और कहा कि "तुम अपने रत्नों को ले लो। ये रत्न तुम्हारे ही हैं। लोग जो यह कहा करते हैं कि समुद्र में रत्न होते हैं, वे रत्न नहीं किन्तु पत्थर हैं। उनसे उतना लाभ नहीं हो सकता, जितना लाभ पुरुष रत्न की बुद्धि से होता है। इस तरह धनपाल की बहुत कुछ प्रशंसा कर महाराज ने उसे और भी अपनी ओर से पाँच गांव जागीरी में देकर बहुत खुशी के साथ उसके घर पर पहुँचा दिया।

एक दिन की बात है कि महाराज अपना खजाना देखने को गये हुए थे। महाराज वहाँ पहुँचे ही थे कि इतने में पुरोहित के जीव ने जो खजाने पर सर्प हुआ था दौड़कर महाराज के पांव में काट खाया। सर्प के काटते ही शोर मच गया, सब मंत्र जानने वाले बुलवाये और कहा कि जो सर्प महाराज का

अपराधी है, वह तो यहीं ठहरे बाकी के सब सर्प चले जावें। मंत्रवादियों के कहे माफिक गन्धमादन सर्प जिसने कि महाराज को काटा था, ठहरा और सब चले गये। फिर मंत्रवादियों ने उस सर्प से कहा नागराज! तुम्हें उचित है कि या तो महाराज का पीछा छोड़ दो और यदि यह स्वीकार न हो तो इस जलते हुए अग्नि कुण्ड में कूद पड़ो, सुनकर सर्प को बड़ा क्रोध आया, वह अपने शरीर की भी कुछ भी परवाह न कर झट से अग्नि में जा गिरा और देखते-देखते भस्म हो गया। उसके मरते ही महाराज ने भी अपनी जीवन लीला संवरण की।

भाइयो! देखो पूर्व जन्म की शत्रुता भी कितनी भयानक होती है। इसी शुत्रुता से सर्प ने महाराज को काटा था, इसलिए पूर्ण ध्यान रक्खो कि कभी किसी के साथ वैर विरोध न होने पावे। सर्प मरकर नरक गया और महाराज पशुगति में गये। आपने चोरी का उपाख्यान सुना, चोरी कितनी बुरी आदत है। देखो, चोरी करने से ही सत्यघोष की यह हालत हुई। चोरी से बढ़कर कोई पाप नहीं है। इसी चोरी से बहुत से नरक गये, बहुत से तिर्यंच हुए, बहुतों को शूली पर चढ़ना पड़ा, बहुतों का सिर काटा गया, बहुतों के नाक, कान, हाथ, पांव आदि काटे गये, बहुतों का धन नष्ट हुआ, बहुतों की कीर्ति में कलंक लगा। कहाँ तक बतलाया जावे, संसार में जितने कठिन से कठिन दुःख हैं वे सब चोरी करने वालों को सहने पड़ते हैं।

बिना दिये किसी की वस्तु के लेने को चोरी कहते हैं। परन्तु इससे भी अधिक वह पाप है जो अपने यहाँ रक्खे हुए दूसरे के धन को हजम कर जाते हैं। इन बुरे कर्मों से बहुतों ने दारुण दुःख भोगे हैं। इसलिए जो दुःखों से बचना चाहते हैं, उन्हें बुरे कर्म छोड़ देने चाहिए।

चोरी करने से पाप का बन्ध होता है। सब गुण नष्ट हो जाते हैं, धन का नाश हो जाता है। शारीरिक और मानसिक कष्ट उठाने पड़ते हैं। इसके सिवाय दोनों लोकों में निन्दा का पात्र होना पड़ता है। इसलिए हे बुद्धिमानों! इस पाप कर्म का परित्याग करो और पवित्र जिनधर्म स्वीकार करो। यही आत्मा को पूर्ण शांति का देने वाला है और संसार के दुःखों का नाश करने

वाला है। जिसका देव तक जब यशोगान करते हैं, तब वह कितना उत्तम होगा, यह सहज ही ध्यान में आ सकता है।

।।इति षष्टः परिच्छेदः।।

चिंता तजै न चोर, रहत चौंकायत सारै।
पीटै धनी विलोक, लोक निर्दइ मिलि मारै।।
प्रजापाल करि कोप, तोपसौं रोप उड़ावै।
मरै महा दुख पेखि, अंत नीची गति पावै।।
अति विपति मूल चोरी विसन, प्रगट त्रास आवै नजर।
परवित अदत अंगार गिन, नीति निपुन परसैं न कर।।
(जैनशतक)

सातवीं परस्त्री-व्यसन कथा

गौतम स्वामी को नमस्कार कर उनसे श्रेणिक ने प्रश्न किया कि "स्वामी, परस्त्री सेवन के द्वारा दुःख उठाने बाले की कथा सुनाइये। उत्तर में भगवान ने यों सुनाना आरम्भ किया कि-

"जिस तरह अन्य व्यसनों के सेवन से अनेक व्यक्तियों ने दुःख उठाये हैं, उसी तरह परस्त्री सेवन के द्वारा भी अनेक व्यक्तियों ने घोरतर दुःख सहे हैं। परन्तु ऋषिलोग अपने-अपने ग्रन्थों में रावण का अधिक उल्लेख करते हैं इसीलिए हम भी तुम्हें उसी का उपाख्यान सुनावेंगे। लंकाधिपित रावण ने केवल सीता के हर ले जाने से ही जब अपने पवित्र कुल को कलंकित कर दुःख उठाये, तब जो परस्त्री का सेवन करते हैं वे यदि नरक जावें और घोरतर दुःख सहें तो आश्चर्य क्या है- सुनो।"

राक्षसद्वीप के अर्न्तगत लंका नाम की राक्षसों के रहने की नगरी है, वह सुन्दरता में स्वर्ग से किसी अंश में कम नहीं है, यहीं रावण उसका राजा था, रावण का जन्म राक्षस नामक वंश में हुआ था, जिस प्रकार इन्द्र अपनी राजधानी का सुनीति से राज्य करता है, उसी तरह रावण भी लंका का राज्य नीतिपूर्वक करता था। रावण के दो भाई और थे, उनके नाम थे कुंभकर्ण और विभीषण। इन्द्रजीत तथा मेघनाथ आदि बहुत से उसके पुत्र थे। रावण की अट्ठारह हजार स्त्रियाँ थीं परन्तु उन सब में प्रधान महारानी का सौभाग्य मन्दोदरी को मिला था। रावण की राज्यनीति से उसकी सब प्रजा प्रसन्न थीं। इसी से कोई उसका शत्रु न था। ठीक भी हैं, जिसने इन्द्र, वरुण, यम और वैश्रवण आदि बड़े-बड़े राजाओं के अभिमान का नाशकर उन्हें अपने आधीन कर लिया था, फिर पृथ्वी पर कौन ऐसा पराक्रमी राजा रहा होगा जो इसके शासन का अपमान कर सके।

रावण तीन खण्ड का राजा था, इसी से उसके यहाँ चक्ररत्न भी प्रगट हो गया था जो सब सुखों का कारण समझा जाता है। रावण बड़ा ही प्रतापी और पुण्यशाली था। उसकी प्रसिद्धि सारी पृथ्वी में हो रही थी। उसका सब राजे महाराजे बड़ा आदर करते थे।

रावण का बहनोई खरदूषण था। इसकी राजधानी अलंकारपुर थी। अपनी भुजाओं के बल से यह भी संसार में प्रसिद्ध हो रहा था। यह भी रावण की तरह तीन खण्ड राज्य का स्वामी था। राक्षसवंशी तथा वानरवंशी आदि सभी इसकी आज्ञा मानते थे और इसे अपना स्वामी कहते थे।

एक दिन कैलाश पर्वत पर श्री बालीमुनि को केवलज्ञान हुआ जानकर उनकी पूजन करने को देव विद्याधर आदि सभी वहाँ आये। इसी समय रावण भी वहाँ पहुँचा और भगवान को नमस्कार कर बैठ गया। सभी ने भगवान का उपदेश सुनकर अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार व्रत नियमादि ग्रहण किये, परन्तु रावण वैसा ही चुपचाप बैठा रहा। उसे चुप-चाप बैठा हुआ देखकर श्री बाली (अनंत बल) मुनिराज ने उससे कहा तुम भी "कुछ व्रत नियमादि ग्रहण करो, जिससे आत्मा को शान्ति मिले," रावण बोला- "हे भगवान! कहिये मैं क्या व्रत ग्रहण करूँ," उत्तर में भगवान ने कहा "तुम जानते हो कि जो आचार विचार से रहित होता है, व्रत नियमों को जो धारण नहीं करता है उसे बुरी गतियों में दुःख सहने पड़ते हैं। इसलिए आत्महित के चाहने वालों को कम से कम एक व्रत तो जरूर ही स्वीकार करना चाहिए।" रावण को अपनी सुन्दरता पर बड़ा अभिमान था, इससे उसने उस समय घमण्ड में आकर कहा कि "स्वामी! दया करके मुझे भी किसी एक व्रत से पवित्र करो। मैं आपके सामने प्रतिज्ञा करता हूँ कि, "जो स्त्री मुझे न चाहेगी उससे मैं कभी जबरदस्ती बलात्कार (मैथुन) नहीं करूँगा।" सुनकर भगवान बोले "जैसी तुम्हारी इच्छा। परन्तु, देखना कहीं इसके पालन करने में भी शिथिल न हो जाना।"

रावण व्रत धारण कर अपने घर चला गया ओर फिर सुखपूर्वक प्रजा का पालन करने लगा। रावण के समय में दूसरा कोई प्रतापी राजा न था जो

इसके सुख में बाधा पहुँचा सके। रावण तीन खण्ड का एक छत्र राज्य करता था। उसने जिन शक्तियों के द्वारा अपने राज्यों को इस योग्यता पर पहुँचा दिया था, उसकी कथा अन्य ग्रन्थों में विस्तृत वर्णन की गई है। उसके अखण्ड प्रताप ने उसकी प्रसिद्धि सारे संसार में कर दी थी। यह सुन राजा श्रेणिक ने गौतम स्वामी से पूछा- "भगवान! आपकी कृपा से रावण के प्रताप और विस्तृत राज्य का तो हाल जान लिया, परन्तु इसमें कुछ और विशेष पूंछना है। वह यह कि रावण ने जो दूसरे की स्त्री हरी थी यह कैसे और किसलिए हरी थी? उसकी ऐसी बुरी वासना क्यों हुई? और यह स्त्री कौन थी?" सुनकर गौतम स्वामी ने कहा "रावण ने जिस स्त्री को हरी थी, वह रामचन्द्र जी की पत्नी थी, उसका नाम था सीता। वह सुन्दरता में उस समय सारे संसार की स्त्रियों में सुप्रसिद्ध थी। रावण एक दिन युद्ध करने को वन में आया हुआ था। वहीं पर इसे बैठी हुई देखकर उसकी सुन्दरता पर मुग्ध हो गया और फिर छल से इसके पति का वियोग कराकर इसे आप जबरन उठा ले गया। उसी पाप के फल से आज भी वह नरक में घोर दुःख भोग रहा है।"

यह सुनकर श्रेणिक का भी कौतुक बढ़ा, उसने पूछा "स्वामी! मुझे इसी कथा के अर्न्तगत कुछ और पूछना है। इस अविनय को आप क्षमा करें। रामचन्द्र वन में क्यो आये थे? और उन्होंने अपनी पत्नी को अकेली वन में क्यों छोड़ा? स्वामी ने कहा "श्रेणिक! तुम्हारी अधिक-अधिक उत्कण्ठा देखकर आनन्द होता है तुम निर्भय होकर पूंछो। उसके सुनाने में मुझे किसी तरह की रुकावट नहीं है। सुनो, रामचन्द्र वन में क्यों आये? इसकी कथा बहुत बड़ी है। तुम्हें उसका संक्षिप्त वर्णन सुनाया जाता है।"

कौशल देश के अर्न्तगत अयोध्या नाम की एक नगरी है, इसके राजा थे दशरथ, इनकी चार स्त्रियाँ थीं, उनके नाम कौशल्या, सुमित्रा, कैकयी और अपराजिता थे। इसमें कौशल्या के रामचन्द्र, सुमित्रा के लक्ष्मण, कैकयी के भरत और अपराजिता के शत्रुघ्न हुये। अपने सुशील पुत्रों के साथ दशरथ सुखपूर्वक प्रजापालन करते थे बड़े-बड़े राजे-महाराजे दशरथ की आज्ञा के

आधीन थे।

एक दिन की बात है कि दशरथ सभा में बैठ कर दर्पण में अपने मुख मण्डल की शोभा का निरीक्षण कर रहे थे कि उन्हें कानों के पास एक सफेद बाल दीख पड़ा, उसे देखते ही क्षणमात्र में उनके हृदय में वैराग्य का उदय हो आया। वे विचारने लगे कि "काल के घर का दूत अब आ पहुँचा है, इसलिए इन विषयों से इन्द्रियों को खींचकर अपने वश करूँ। विषयों का सेवन करते-करते बहुत दिन बीत गये, अब भी यदि इनसे उपेक्षा न की जायेगी तो नियम से कुगतियों के घोर दुःख सहने पड़ेंगे। क्योंकि यह राज्य केवल संसार का बढ़ाने वाला है। इस अन्तिम अवस्था में उचित है कि इस राज्यभार को रामचन्द्र के सुपुर्द करके मैं जिन दीक्षा स्वीकार करूँ, क्योंकि संसार के दुःखों के नाश करने में यही समर्थ है" यह विचार कर दशरथ ने अपने कुटुम्ब के सब लोगों को बुलवाया और उनके सामने रामचन्द्र को राज्यभार देना चाहा। जब यह हाल कैकयी को मालूम हुआ, तो वह उसी समय उनके पास आई और रोकर बोली कि "नाथ! मुझ दासी को यहीं अकेली छोड़कर आप कहाँ जाते हैं? मैं भी आप ही के साथ-साथ चलूँगी। जब आप ही नहीं हैं, तब मुझे पुत्र और राज्य से ही क्या मतलब? कुल स्त्रियों को अपने प्राणनाथ के साथ वन में भी क्यों न रहना पड़े, उनके लिए वही सुखस्थल है। वही राज्य महल है।" दशरथ बोले-"प्रिये! तुम मेरे साथ वन में चलकर क्या करोगीं? तुम यहीं रहो और पुत्र को सुखी देखकर आनन्द से दिन बिताओ।" यह सुनकर भरत बोल उठा कि "पिताजी! मुझे घर से कुछ प्रयोजन नहीं है। मैं तो आपके साथ ही जिनदीक्षा स्वीकार करूँगा।" अपने पुत्र का भी दीक्षा लेना सुनकर कैकयी दशरथ से बोली कि "प्राणनाथ! क्या आपको याद है कि स्वयंवर के समय आपने मुझे एक वचन दिया था? यदि आपको स्मरण हो, तो उसे पूरा करके मेरी आशा को पूरी कीजिए। "उत्तर में दशरथ ने कहा प्रिये, यह न समझो कि मैं अपने वचन को भूल गया, मुझे वह अच्छी तरह याद आया है तुम्हें जो चाहिए उसे मांगो, मैं अवश्य ही तुम्हारी इच्छा पूरी करूँगा। क्योंकि नीतिकारों

का कहना है कि जो अपने वचनों को पूरा नहीं करते, वे मनुष्य नहीं हैं। इसलिए मैं अपना वचन जरूर ही पूरा करूँगा। तुम वास्तव में मेरी शुभ कामना पूरी करने वाली हो, यह तुम्हारी ही कृपा का फल है जो मैं युद्ध में जीता बचा था। इसलिए अब मुझे भी उचित है कि मैं भी तुम्हारी इच्छा पूरी करूँ, क्योंकि सब कर्जों में वचन का कर्ज ही बड़ा भारी है।" यह सुन कैकयी फिर बोली "स्वामी! अब मुझे आपके वर की चाह नहीं है, मैं तो आप ही के साथ-साथ वनवासिनी बनूँगी।" दशरथ बोले "प्रिये! मैं तुम्हारी इच्छा का बाधक नहीं होता, जैसा तुम्हें अच्छा मालूम दे वही करो, परन्तु बात यह है कि मैं इस समय राजा हूँ तुम अपना वर माँग लो, उसे मैं पूरा कर सकता हूँ।" कैकयी नीचा मुख कर दशरथ से बोली कि "नाथ! यदि आपका आग्रह है तो अस्तु, मुझे स्वीकार है। परन्तु बात यह है कि इधर तो आप चले और साथ ही पुत्र भी दीक्षा लेना चाहता है, ऐसी दशा में पति और पुत्र रहित होकर मैं अभागिनी अकेली ही रहकर क्या करूँगी? इसलिए यदि आप उचित समझते हैं, तो अपना राज्य भरत को और रामचन्द्र को वनवास दीजिए," कैकयी की यह बुरी वासना सुनकर दशरथ ने विचारा कि "यदि इस समय भरत को राज्य नहीं देता हूँ तो मेरे वचनों में कलंक लगता है और भरत को राज्य दे भी दिया जाये तो कुछ हानि नहीं, परन्तु मुझसे यह कैसे कहा जा सकेगा कि "रामचन्द्र! तुम अब वनवास सेवन करो, यह राज्य भरत को दिया जायेगा ये दोनों बातें विरुद्ध हैं। अब मुझे क्या कर्तव्य है?" बेचारे दशरथ को इस कठिन प्रश्न ने किंकर्तव्यविमूढ़ बना दिया, उनसे कुछ भी कहते न बना, वे बड़े दुखी हुये। इतने में वहीं रामचन्द्र आ गये, उन्होंने पिताजी के मुख को निष्प्रतिभ देखकर मंत्रियों से पूछा कि "आज पिताजी चिन्तित से क्यों दीख पड़ते हैं?" उत्तर में मत्रियों ने कहा कि "शायद तुम्हें स्मरण होगा कि स्वयंवर के वक्त महाराज ने कैकयी को वर दिया था सो आज उनका दीक्षा लेना सुनकर महारानी ने अपना वर महाराज से मांगा है। वे कहती हैं कि यह राज्य भरत के लिए दिया जाकर रामचन्द्र को वनवास दिया जाये। अब इसमें कर्तव्य क्या है? इसकी चिन्ता से

महाराज दुखी हो रहे हैं। इनका हृदय चिन्ता से समुद्र में डूब रहा है। सुनकर रामचन्द्र ने बड़ी ही धीरता के साथ यह कहा "क्या यही छोटी सी चिन्ता महाराज के दुःख की कारण है? यह तो कुछ भी बात नहीं है। इसके लिए इतनी चिन्ता करना उचित नहीं है। मेरी समझ में तो यही उचित जान पड़ता है कि पिताजी को अपने वचन पूरे करने के लिए माता कैकयी के कहे अनुसार भरत को राज्य देना चाहिए और मेरे लिए जो माता की आज्ञा हुई है, उसका मैं पालन करने को तैयार हूँ। क्या आप यह नहीं जानते कि संसार में वे ही पुत्र कहलाने योग्य हैं जो पिता के पूर्ण भक्त हों और जिन्हें अपने पिता के वचनों को सदा ख्याल रहता हो। वे पुत्र नहीं हैं जो अपने पिता की आज्ञा का पालन नहीं करते हैं। जो हो, मैं तो प्राणपण से पिताजी के वचनों के पूरे होने की कोशिश करूँगा।" इतना कहकर रामचन्द्र ने उसी समय भरत के ललाट में राज्यतिलक कर दिया और स्वयं पिताजी के चरणों को नमस्कार कर लक्ष्मण को अपने साथ ले वहाँ से चल दिये, पुत्र की यह अश्रुतपूर्ण धीरता दशरथ न देख सके, उन्हें पुत्र के रवाना होते ही मूर्च्छा आ गई।

रामचन्द्र वहाँ से चलकर अपनी माता के पास पहुँचे और नमस्कार कर उनके सामने बैठ गये, बाद में उन्होंने माता से प्रार्थना की कि "माता! पिताजी के वचनों का पालन करने के लिए हम विदेश जाते हैं। जब हम अपनी कहीं सुव्यवस्था कर लेंगे, तब तुम्हें भी लिवा ले जावेंगे। इसलिए तुम किसी तरह का दुःख न करना।" इस प्रकार माता को समझा-बुझाकर वे दोनों भाई(राम - लक्ष्मण) घर से बाहर हो पतिप्राणा सीता को साथ लिए हुए जंगल की ओर रवाना हुये। यह देख बहुत से प्रजा के लोग भी रामचन्द्र के साथ हो गये, ठीक है, अपने युवराज का अगाध प्रेम उन्हें यों अकर्मण्य कैसे बैठने देता? रामचन्द्र ने उन्हें बहुत रोका, परन्तु सुने कौन? सब उनके पीछे-पीछे ही चले जाते थे, कुछ दूर चलकर इन्हें एक अन्धकारमय अटवी मिली, वहीं एक बड़ी भारी और गहरी नदी बह रही थी। रामचन्द्र और लक्ष्मण तो सीता को लेकर जल्दी नदी के पार हो गये, परन्तु और लोगों के लिए यह असंभव हो

गया। अगत्या उन्हें उदास होकर वापिस घर की ओर लौट आना पड़ा। इसे छोड़कर वे कर ही क्या सकते थे? जब भरत ने सब लोगों के साथ रामचन्द्र को न आये हुए देखा तब उन्हें बड़ा दुःख हुआ। वे उसी वक्त माता के पास जाकर बोले कि "माता! बिना रामचन्द्र के मैं किसी तरह राज्य पालन नहीं कर सकता। सो या तो उन्हें वापिस लाने का उपाय करो, नहीं तो मैं भी जाकर जिन दीक्षा ग्रहण करता हूँ। आगे जैसा उचित समझो, वैसा करो। मुझे जो कहना था वह कह चुका।" पुत्र के आश्चर्य भरे वचन सुनकर उसे बहुत कुछ चिन्ता हुई। वह उसी वक्त उठी और पुत्र तथा और भी कितने ही अच्छे-अच्छे पुरुषों को साथ लेकर रामचन्द्र के पास जा पहुँची। रामचन्द्र अपनी माता का आना सुनकर कुछ दूर तक उनके सामने गये और उनके चरणों को नमस्कार किया। भरत रामचन्द्र को देखते ही उनके पांवों में गिर पड़े और गद-गद होकर बोले कि "महाराज! मुझ दास पर दया कीजिए, क्या आप इन स्त्रियों के चरित्र से अपरिचित हैं? इन्हीं के द्वारा गाढ़ प्रेम क्षणमात्र में नष्ट हो जाता है। यह जाति बड़ी विषैली है, मुझे बड़ा आश्चर्य है कि आप क्यों इनके मायाजाल में फँस गये? क्या केवल माता के वचनों को मानकर आपको यह करना उचित है? नहीं स्वामी! मुझ पर कृपा कीजिए। आप चलकर अपना राज्य सम्भालिये। यह राज्यशासन आप ही को शोभा देगा। आप सिंहासन को अलंकृत कीजिए, हम लोग आपके मंत्रित्व का काम करेंगे। मैं आपके ऊपर छत्र लगाऊँगा और शत्रुघ्न चँवर डुरावेगा। नाथ यदि अब भी आप कृपा करके अयोध्या की ओर गमन न करेंगे, तो निश्चय समझिये कि मैं भी वहाँ नहीं ठहरूँगा। आपके बिना राज्य से मुझे कुछ प्रयोजन नहीं है।" उत्तर में रामचन्द्र ने कहा कि "भाई! तुम यह न समझो कि मैंने माता से द्वेष करके वन में जाना विचारा है। किन्तु मुझे तो पिताजी के वचनों का पालन करना है, मैं प्राणपण से उनके वचन पूरे करूँगा। इसलिए पीछे किसी तरह नहीं लौट सकता। तुम जाओ बारह वर्ष पर्यन्त प्रजापालन करो, तब तक मैं इधर नहीं आऊँगा।" भरत यह सुनकर बड़े खेदित हुये, उन्होंने रामचन्द्र से

चलने के लिए बहुत कुछ आग्रह करना आरम्भ किया, यह देख रामचन्द्र से न रहा गया, उन्होंने अन्त में कुछ कठोरता लिए कहा कि "भरत! पिताजी ने तुम्हें बारह वर्ष तक राज्यशासन करने की आज्ञा दी है, इसका मुझे बहुत आनन्द है। इसके सिवाय मैं अपनी ओर से और भी दो वर्ष के लिए तुम्हें राज्य देता हूँ। चौदह वर्ष पूर्ण होते ही मैं इधर आ जाऊँगा। इसके पहले न आने की मैं प्रतिज्ञा करता हूँ। यदि तुम मेरे पीछे आने की इच्छा रखते हो तो यह आपको उचित नहीं है अतः आग्रह को छोड़ दो और जाकर राज्य पालन करो, अन्यथा इसका परिणाम अच्छा न होगा।" यह देखकर मंत्रियों ने भरत को समझाया कि "अधिक आग्रह करने में कुछ लाभ नहीं दीख पड़ता, बस आप अब चुपचाप जाइये। नहीं तो ऐसा न हो कि कुछ का कुछ हो जाये, यद्यपि रामचन्द्र के अन्तिम उत्तर से भरत को बहुत दुःख पहुँचा, परन्तु निरूपाय हो उन्हें उनका कहना मानना पड़ा, इसके बाद में भरत रामचन्द्र को नमस्कार कर पीछे लौट आये। भरत राज्य तो करने लगे, परन्तु उनका चित्त सदा रामचन्द्र में लगा रहता था, इससे वे सदा दुःखी से बने रहते थे।

भरत के चले जाने पर रामचन्द्र भी वहाँ से रवाना होकर धीरे-धीरे चित्रकूट पर्वत पर आ पहुँचे। यहाँ कुछ विश्राम करके मालवदेश की ओर रवाना हुए और रास्ते में उन्होंने धर्मात्मा वज्रजंघ की शत्रु से रक्षा की। इन्होंने और भी बहुत से अच्छे-अच्छे काम किये, जिन से इनकी बहुत प्रसिद्धि हो गई, वहाँ से रवाना होकर ये आगे चले। रास्ते में वनमाला आदि बहुत सी राजपुत्रियों के साथ लक्ष्मण का विवाह हो गया। कुछ दिन तक बराबर चलकर ये दोनों भाई वंशगिरी नामक पर्वत पर आ गये। यहाँ पर श्री देशभूषण और कुलभूषण मुनिराज विराज रहे थे। उन्हें ध्यान में बैठे हुए देखकर उनका कोई पूर्वजन्म का शत्रु उन पर घोर तर उपद्रव कर रहा था। सो इन्होंने अपने बल से मुनिराजों का उपद्रव दूर किया। ये दोनों भाई कुछ समय तक तो वहाँ ठहरे, इसके बाद वहाँ से भी चलकर दण्डकवन में आये। वन बड़ा भयावह हो रहा था, एक वक्त तो उसके भीतर घुसने की काल की भी हिम्मत नहीं पड़ती थी।

उसकी कुछ परवाह न कर ये दोनों भाई उसी के भीतर ठहरे।

कुछ दिन चढ़ चुका था, लक्ष्मण भोजन की फिकर में लगे, भोजन की सामग्री इकट्ठी की गई, सीता ने थोड़ी ही देर में भोजन तैयार कर अपने स्वामी से कहा "प्राणनाथ! अब आप पूजन कीजिए, दिन अधिक चढ़ा जाता है," उसके कहे अनुसार रामचन्द्र जिनभगवान की पूजन कर अतिथि संविभाग के लिए सुपात्र की प्रतीक्षा करने लगे, भाईयो! पुण्य सब जगह साथ ही बना रहता है। ठीक, इसी नीति के अनुसार रामचन्द्र के पुण्य के प्रेरे हुए एक महीने के उपवासी दो मुनिराज वहीं आ उपस्थित हुए। रामचन्द्र ने मुनिराज के पवित्र दर्शन कर अपने नेत्रों को पवित्र किया और बाद में तीन प्रदक्षिणा देकर कहा कि स्वामी! ठहरिये, ठहरिये! ठहरिये!!! इस प्रकार प्रार्थना कर प्रासुकजल से उनके चरण कमल धोये और उस पवित्र जल को अपने मस्तक पर लगाया। उसी जगह एक वृक्ष की डाली पर जटायु नाम का पक्षी बैठा हुआ था। उसने रामचन्द्र द्वारा की हुई क्रिया को देखकर विचारा कि "हाय! धिक्कार है मेरे इस जीवन को जो मुझे पशुपर्याय मिली, आह! ये दोनों भाई कितने पुण्यात्मा हैं, जो इन्हें ऐसे महात्मा की सेवा करने का आज अवसर मिला है और यह स्त्री भी बड़ी ही सौभाग्यवती है, जो मुनिराज की परिचर्या में इतनी भक्ति कर रही है, हाय! मैं बड़ा ही अभागा हूँ, जो मुझे यह पशुगति मिली। यदि आज मैं भी इन की तरह मनुष्य होता तो क्या आज इस अपूर्व अवसर को जाने देता? मैं मारा गया, हे प्रभो! यदि कभी मुझे भी पुण्य प्रभाव से मानव पर्याय प्राप्त हो, तो मैं भी नियम लेकर ऐसे महात्माओं की बड़ी भक्ति से सेवा करूँगा। इसी प्रकार के पवित्र विचार उसके हृदय में लहरे लेने लगे।

रामचन्द्र और सीता ने नवधा भक्ति से मुनिराज को आहार दिया, आहार हो चुकने के बाद जब मुनिराज वहाँ पर बैठे, तब रामचन्द्र ने उन्हें नमस्कार कर पूछा- "स्वामी! यह स्थान इस प्रकार सुनसान कैसे हो गया है? और क्यों इसका नाम दण्डकवन पड़ा है?" मुनि बोले इस देश के राजा का

नाम था दण्डक। वह बड़ा ही तेजस्वी था, उसकी सारी पृथ्वी में प्रसिद्धि हो रही थी। किसी समय उसके राज्य में बहुत से दिगम्बर मुनि आये, पापी दण्डक ने उनके नग्नरूप को देखकर उनसे बड़ी घृणा की और इसी घुणा के कारण उसने उन सब मुनियों को घानी में पेल दिये, जैसे तिल पेले जाते हैं, सच है पापियों के हृदय में दया नहीं होती।

उन मुनियों में से एक मुनि संघ के बाहर रह गये थे, जब वे मुनि शहर के भीतर घुसने लगे, तब उन्हें लोगों ने भीतर जाने से रोक कर कहा कि "महाराज! यहाँ का राजा बड़ा ही दुष्ट और पापी है। उसने आपके साथ जितने मुनि थे, उन सबों को घानी में पिलवा दिया है। इसलिए आपसे प्रार्थना है कि आप शहर के भीतर न जावें, क्योंकि उसकी क्रूरता तो आप जान ही गये हैं, संभव है आपकी भी वह वही हालत करे।" मुनि साधुओं पर किये गये अत्याचार की बात सुनकर बड़े क्रोधित हुए। क्रोध के आवेश में आकर उन्होंने कहा कि "जिस निर्दयी पापी ने हमारे संघ की यह अवस्था की है, देखूँ अब वह भी कैसे जीवित रह सकता है?" इतना कह कर ही वे राजा के पास गये और उससे बोले कि "पापी! दुराचारी! तू ने ही तो हमारे साधुओं को मरवाया है? देखूँ अब तू अपना जीवन कैसे सुखपूर्वक बिताता है?" इस विषम कोप के साथ ही उनके कन्धे से एक पुरुषाकार तेजस्विनी मूर्ति निकली और देखते-देखते उसने मनुष्यों को, पक्षियों को, पशुओं को, राजा को और साथ ही उन मुनि को भी क्षणमात्र में जलाकर भस्म कर दिये। राजा ने जैसा कर्म किया था, उसका वैसा ही उसे प्रायश्चित भी मिल गया। वह वहाँ से मरकर नरक में गया। वहाँ उसने नाना प्रकार के छेदन, भेदनादि घोर दुःख भोगे। नरक स्थिति पूर्ण कर वह राजा का जीव यह जटायु हुआ है। यह तो इस स्थान के सुनसान होने का कारण है और इसके राजा का नाम दण्डक होने से इसका नाम दण्डकवन पड़ा है। यह सब मुनि के शाप का फल है, जो जैसा कर्म करता है वैसा ही उसका उसे फल भी मिलता है।

मुनि के द्वारा अपना पूर्व जन्म का हाल सुनकर पक्षी को बड़ा दुःख

हुआ, वह मूर्च्छित होकर धड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसे पृथ्वी पर गिरा हुआ देखकर सीता को बहुत दया आई उसने उठाकर उसी समय पक्षी के ऊपर ठण्डा जल छिड़का। उससे उसकी मूर्च्छा कुछ दूर हो गई, सचेत होते ही पक्षी मुनि के पास गया और उनके चरणों में नमस्कार कर अपनी मातृभाषा में बोला कि "हे नाथ! मुझ अनाथ पशु पर भी दया करो, जिससे मैं संसार के दुःख रूपी समुद्र से पार हो सकूँ। मेरा चित्त संसार से अब बहुत ही उदासीन हो रहा है।" मुनि ने जटायु की दुःख भरी दशा पर विचार कर उसे सम्यक्त्व ग्रहण करने का उपदेश दिया। जटायु ने मुनि के कहे अनुसार पाँच अणुव्रत स्वीकार किये और जीवों की हिंसा करना छोड़कर धर्म के सेवन में अपना मन लगाया। सीता यह देखकर कि "उसने जीवों की हिंसा करनी छोड़ दी, अब उसकी जीवन वृत्ति होना मुश्किल है," स्वयं उसका पालन पोषण करने लगी। इसके बाद मुनिराज भी उपदेश देकर इच्छानुसार विहार कर गये और रामचन्द्र वहीं निर्भयतापूर्वक ठहरे।

संध्या के समय लक्ष्मण यह देखने के लिए कि "इस वन में कहीं हिंसक जीवों का निवास तो नहीं है" निकले, वे निर्भयता से आगे बढ़े चले जाते थे, कि इतने में कहीं से हवा के साथ-साथ सुगन्धि आई, लक्ष्मण भी जिधर से सुगन्धि आती थी, उधर ही मुड़े। थोड़ी दूर जाकर उन्होंने देखा कि एक गहन बांस के बीहड़ के ऊपर सुन्दर खड्ग लटक रहा है और उसके ऊपर चन्दनादि सुगन्धित वस्तुओं का लेपन किया हुआ है। वह अनेक तरह के सुगन्धित फूलों से सजा हुआ है उसका नाम चन्द्रहास खड्ग है। वह इन्द्र के हाथ से आया है, इतना कहकर गौतम भगवान ने इसी कथा के सम्बन्ध में रखने वाली दूसरी कथा कहनी आरम्भ की।

एक अलंकारपुर नामक शहर था, उसका राजा खरदूषण था। इसकी स्त्री का नाम सूर्पनखा(चन्द्रनखा) था, वह रावण की बहिन थी, इनके शम्बूक नाम का पुत्र था। वह बहुत सी विद्या का जानने वाला था, यही शम्बूक इस दुर्गम बांस के बीहड़ में चन्द्राहास खड्ग सिद्ध करने को मंत्र साधन कर रहा

था। परन्तु निर्बल पुरुषों के लिए मंत्र का करना जरा कठिन है। यद्यपि उसका हृदय निर्बल था, तो भी उसने बारह वर्ष तक एक दिन उपवास और एक दिन कोदु तथा जल लेकर पूर्ण किये। क्योंकि गुरु ने इसके सिद्ध होने की अवधि बारह वर्ष बतलाई थी, गुरु ने मंत्र साधन का उपदेश देते वक्त उसे इतना और समझा दिया था कि जब खड्ग उतर आवे, तब भी तुम उसे सात दिन और भी हाथ में नहीं लेना। आठवें दिन, पहले जिन भगवान की पूजा करना और फिर खड्ग को नमस्कार कर हाथ में लेना। शम्बूक गुरु से मंत्र सीखकर उसे सिद्ध करने लगा, सो खड्ग को आये हुए अभी पूरे सात ही दिन बीतने पाये थे कि आज ही लक्ष्मण इधर आ निकले, खड्ग को बांस बीहड़ पर लटका हुआ देखकर उन्होंने उसे कौतुक से हाथ में ले लिया और चलाना चाहा। उन्हें न तो यही मालूम था कि इस बीहड़ में कोई ध्यान लगाये हुए बैठा है और न खड्ग की शक्ति का परिचय था। सो खड्ग के चलाते ही निमिषमात्र में वह सारा बांस का बीहड़ और उसके साथ शम्बूक का सिर भी कटकर गिर पड़ा, इसके बाद वह खड्ग लक्ष्मण के हाथ में वापिस आ गया। खड्ग लेकर लक्ष्मण वहाँ से चल दिये और कहीं अन्य वन में जाकर ठहर गये। कुछ देर के बाद ही आहार के लिए सामग्री लेकर शम्बूक की माता सूर्पनखा भी आ पहुँची और वह वन को बिल्कुल साफ देखकर विचार करने लगी कि "जाना जाता है पुत्र ने खड्ग के सिद्ध होने की परीक्षा की है। जीवों का नाश कर आज उसने क्रूरता धारण की है।" पुत्र को मंत्रसिद्धि हुई समझकर वह बहुत खुश हुई। परन्तु जब वह नीचे उतरी और पुत्र के मस्तक को धड़ से जुदा देखा, तब उसे बड़ा दुःख हुआ, परन्तु फिर भी भ्रम से वह यह समझ कर कि "शायद पुत्र ने यह अपने मंत्र की माया फैलाई है," जल्दी से पुत्र के पास आकर कहने लगी कि "पुत्र! उठो, उठो क्या तुम्हें मुझ से ही मायाचार करना उचित है? तू ने विद्या के सिद्ध करने में बहुत दिन बिताये हैं, अब तो उठकर मेरे गले से लग जा। मंगलमय दिन में इस प्रकार अमंगल करना उचित नहीं है। अथवा क्या किया है? जो कुछ हो प्यारे पुत्र! इस समय तुझे ऐसा करना उचित नहीं है। तू

मेरे दुःख की ओर तो जरा देख कि आज बारह वर्ष हो गये, मैंने अपने हृदय के एक टुकड़े को किस दुःख दशा में छोड़ रक्खा है? पुत्र! दयाकर और अपनी यह सब माया समेट, जल्दी उठकर मुझे सुखी कर," पुत्र से बहुत देर तक इसी तरह सूर्पनखा प्रार्थना करती रही, परन्तु पुत्र उसी हालत में पड़ा रहा। अन्त में उसने पुत्र को मरा समझा। वह निराश होकर और अपने प्यारे पुत्र के मस्तक को अपनी गोद में रखकर रोने लगी। छाती कूटने लगी, उसे अपार दुःख हुआ। सच है, कहाँ तो पुत्र के अभ्युदय की आशा और कहाँ अचानक उसकी मृत्यु, ऐसी हालत में किस माता को पुत्र का असह्य शोक नहीं होता।

"हाँ! बेटा, तू अपनी दुःखिनी माता को छोड़कर अकेला कहाँ चल बसा? हाय! तू ने विद्या के साधन में इतने दिन तक कठिन से कठिन दुःख सहे थे। मैं आज ही के लिए तो इतनी आपत्तियाँ सह रही थी। तेरा विषम वियोग मैंने आज तक सहा। हाय! क्या वह सब इसी दारूण दुःख देखने के लिए सहा था, जो आज भी तेरे पवित्र दर्शन मेरे भाग्य में नहीं। हाय! ऐसे निर्जन जंगल में मेरे प्राणों से भी प्यारे पुत्र की यह दशा किसी दुरात्मा पापी ने की है? हाय! पुत्र किस निर्दयी के हाथ तेरे सुकोमल शरीर पर इस कठोरता के साथ चले हैं? वह मनुष्य नहीं चाण्डाल है, जिसने मेरे निरपराध पुत्र को मारा है, अरे पापी! निर्दयी!! जरा तो मुझ अनाथिनी पर दया करता, जो मैं एक बार तो पुत्र से प्रेमालाप कर लेती, हे सुन्दराकर! हे महाबाहो! हे प्राणो से प्यारे पुत्र! हे चन्द्रमुख! तू तो अभी निरा बालक ही था। तुझे देव ने अपना ग्रास किसलिए बनाया? हे जीवन के अवलम्ब पुत्र! आज तेरे बिना यह दुःखमय मेरा जीवन कैसे पूरा होगा? हाय! पुत्र नहीं मालूम मुझ अभागिनी ने पूर्व जन्म में किस सती साध्वी के पुत्र का वियोग किया, जिससे आज मुझे भी यह भीषण यंत्रणा भोगनी पड़ी है। इसी तरह बहुत देर तक वह विलाप करती रही। अन्त में जब कुछ शोक का आवेग कम हुआ, तब उसने सोचा कि अब रोने से क्या होगा? जिस पापी दुराचारी ने मेरे पुत्र की दशा की है, अब तो उसी की शोध लगाकर उसे भी इसी दशा पर पहुँचाने की कोशिश करूँ। जिससे कुछ मुझे संतोष हो,"

इतना कहकर पुत्र के शिर को तो पृथ्वी पर रक्खा और आप पुत्र के बैरी को ढूँढ़ने को निकली।

थोड़ी दूर ही वह पहुँची होगी कि उसने एक सुन्दर और जवान पुरुष को एक स्थान पर बैठा हुआ पाया, पाठक जान गये होंगे कि ये बैठे हुए और कोई नहीं लक्ष्मण हैं। सूर्पनखा उनका सुन्दर रूप देखकर आपे में न रह सकी, उसके हृदय में काम ने अपना निवास जमाया, लक्ष्मण के हाथ में खड्ग भी मौजूद था, इससे उसने यह तो अच्छी तरह समझ लिया कि मेरे पुत्र को इसी ने मारा है, इसमें किसी तरह का सन्देह नहीं है। परन्तु मेरा हृदय तो इसकी सुन्दरता पर विरोध करना नहीं चाहता है। दूसरा यह भी है कि पुत्र तो मर ही चुका है। वह अब पीछे आवेगा नहीं, तब फिर इससे शत्रुता करके ही क्या होगा? किन्तु सार तो इसमें है कि यदि यह मेरा स्वामी हो जाये, तो क्या यही अच्छा हो? और तभी मेरा जीवन सुखमय हो सकता है। यह विचार कर उसने उसी वक्त अपने वेष को पलट कर युवती बालिका का रूप बनाया, मानों ठीक सोलह वर्षीय बालिका हो । सूर्पनखा बालिका बनकर लक्ष्मण के पास आई और रोने लगी। लक्ष्मण ने उसे रोती हुई देखकर कहा कि "बालिके! तू कौन है? क्यों ऐसे सुनसान वन में आई और किसलिए रोती है?" बालिका बोली कि मैं छोटी ही अवस्था में अपने मामा के यहाँ आई थी मेरा पालन-पोषण मामा जी ने ही किया है। ज्यों-ज्यों मैं कुछ बड़ी होने लगी मुझे ज्ञात हुआ कि मामाजी जो मुझे पालते हैं उनका अभिप्राय मेरे विषय में कुछ और ही है। अर्थात् मेरे ऊपर उनकी नीयत अच्छी नहीं है। यह सब हाल किसी तरह मैंने अपने पिता के पास पहुँचा दिया, पिताजी उसी समय मुझे लिवाने को आ गये, मैं उनके साथ अपने घर पर जा रही थी कि रास्ते में इसी जगह विश्राम करना पड़ा। कुछ रात बाकी थी कि हम उठकर चले। परन्तु खेद है कि चलते-चलते पिताजी तो कुछ आगे निकल गये और मैं रास्ता भूल गई। अब मैं नहीं जानती कि घर का रास्ता किधर है? और न पिताजी ही अभी तक मुझे लिवाने को आये हैं, इसी कारण मुझे ऐसे स्थान पर ठहर

जाना पड़ा है।

आज मेरा बड़ा भारी भाग्योदय है जो मुझे आप सरीखे पुण्य पुरुष के दर्शन हुए, हे सुन्दर स्वरूप! आपके इस कामदेव सरीखे रूप पर मेरा यह तुच्छ हृदय न्यौछावर हुआ जाता है। बहुत उत्तम हो यदि मुझ अनाथिनी बालिका के साथ आप विवाह कर मुझे कृतार्थ करें।" उत्तर में लक्ष्मण ने कहा कि "तुम कहती हो यह ठीक है, परन्तु मैं तुम्हें एक बात कहता हूँ कि वह यह कि मैं अपने बड़े भाई के होते हुए विवाह नहीं कर सकता हूँ। इसलिए तुम उन्हीं के पास जाकर उनसे अपने विवाह की प्रर्थाना करो। तुम यह फिकर न करो कि, "मैं सुन्दर हूं," किन्तु मेरे भाई मुझसे भी कहीं अधिक सुन्दर हैं। तुम्हारी सुन्दरता के योग्य वे ही उचित जान पड़ते हैं।" बालिका फिर बोली कि- "आपका कहना ठीक होगा इसमें सन्देह नही, परन्तु मैं तो जहां तक समझती हूँ। आपके समान ही वे होंगे।" लक्ष्मण ने कहा- "जब तक कि तुमने उन्हें देखा नहीं है, तभी ऐसा कहती हो, परन्तु जब उनके दर्शन करोगीं तब मेरे कहने पर विश्वास आवेगा, कि मुझमे और उनमें कितना फर्क है? मेरे कहने का विश्वास करो कि मुझसे और उनमें, सुमेरूपर्वत और सरसों के इतना अन्तर है।" लक्ष्मण के कहे अनुसार सूर्पनखा रामचन्द्र के पास गई और उनसे बोली कि मुझे आपसे प्रार्थना करनी है, आप उसे सुन लें तो बड़ी कृपा हो। लक्ष्मणजी ने मुझे आपके पास भेजा है। मैं एक अनाथ बालिका हूं। दया करके मुझसे आप विवाह कर लें। आपके प्रेम ने मुझे यहां लाकर पटका है।" उसकी काम भरी कथा सुनकर रामचन्द्र बोले कि "बालिके! पहले तुम यह तो बताओ कि लक्ष्मण से तुमने क्या २ कहा था?" वह कहने लगी कि "मैं अपने घर का रास्ता भूलकर उधर जा पहुंची जहां लक्ष्मण बैठे हुये थे। उनके सुन्दर रूप को देखकर मैं उन पर मुग्ध हो गई। उस समय मैंने यह विचार कर कि अभी मैं कुंवारी हूं, इनके साथ मेरा विवाह हो जाने में कोई हानि नहीं है, मैंने अपने विवाह के लिये प्रार्थना की।" तब वे बोले कि "तुम हमारे बड़े भाई के पास जाकर उनसे अपनी प्रार्थना करो। मुझे अभी अवकाश नहीं है।" उनके

कहे अनुसार मैं आपके पास आई हूं। आशा है कि आप मुझ अनाथिनी बालिका को आश्रय देकर कृतार्थ करेंगे।" रामचन्द्र ने उसके उत्तर में कहा कि "तुम्हारा कहना ठीक है, परन्तु अब तुम मेरे योग्य नहीं रहीं। कारण कि तुम पहले लक्ष्मण के साथ अपने विवाह की इच्छा कर चुकी हो। तुम मेरे भाई की स्त्री हो चुकी, इसलिए तुम अब भातृजाया (भाई की बहू) कहलाने के योग्य हो। तुम लक्ष्मण के ही पास जाओ।" रामचन्द्र के कहने से वह फिर लक्ष्मण के पास गई और जो कुछ रामचन्द्र ने उससे कहा था उसे लक्ष्मण को सुना दिया। लक्ष्मण ने कहा- "जब कि तुमने हमारे बड़े भाई से अपने विवाह की इच्छा की है, तो अब तुम मेरे योग्य भी नहीं रहीं। यह बात सभी जानते हैं कि बड़े भाई की स्त्री माता समान होती है। इसलिए तुम भाई के पास ही जाकर उनसे अपनी इच्छा पूरी करो।" गर्ज यह कि काम से पीड़ित होकर वह कई बार रामचन्द्र के पास गई और कई बार लक्ष्मण के पास। सच है जो काम के वश हो जाता है फिर उसे अपने आपे का भी ख्याल नहीं रहता है। नकली सूर्पनख की यह दशा देखकर उससे सीता ने कहा कि "तू बड़ी मूर्खा है, तुझे अपने आपे का भी ख्याल नहीं है। जरा विचार तो कर कि कहीं काक के (कौए के) संसर्ग से मकान भी काला हुआ है?" सीता के इस गहरे कटाक्ष को सुनकर उसे बड़ा क्रोध आया। वह यह कहती हुई कि हां तुझे काक के संसर्ग से ही मकान को काला होता हुआ दिखलाउंगी, चली गई।

जाकर उसने ढोंग बनाया। शरीर में नखों से घाव कर लिए। केशों को बिखेर डाला और शरीर में खूब धूल रमा ली। इस प्रकार अपने वेष को बिगाड़ कर वह अपने पति के पास गई और मूर्च्छा खाकर पृथिवी पर धड़ाम से गिर पड़ी।

खरदूषण ने शीतलोपचार करके उसे सचेत किया और उससे पूछा "कि प्यारी! आज यह क्या हुआ? क्यों इतनी कांप रही हो? जरा बताओ तो, किसने तुम्हारी यह अवस्था की है? मेरा हृदय तुम्हारी यह अवस्था सह नही सकता जिसने तुम्हारी यह दशा की है, आज उसे आठवां चन्द्रमा लगा है।" सूर्पनखा

बोली- "प्राणनाथ! कुछ न पूछिये, आज जो मेरी हालत है उसे मैं ही जानती हूं।" इतना कहते २ वह रोने लगी और छाती कूटने लगी। खरदूषण ने बहुत मुश्किल से उसे समझाकर उसके इस आकस्मिथ्क दुःख का कारण पूछा। वह बोली-"स्वामी! दण्डकवन में दो मनुष्य ठहरे हुये हैं। हाय! उन पापियों ने दुराचारियों ने मेरा सर्वनाश कर डाला। मेरे प्यारे पुत्र को मार डाला।" सुनते ही खरदूषण को भी बहुत क्रोध आ गया। उसे किसी तरह रोककर उसने आगे का हाल पूछा। वह कहने लगी कि जब "पुत्र की यह भयंकर दशा मैंने देखी, तब सब मेरा साहस न जाने कहां चला गया। मैं पुत्रमस्तक को अपनी गोद में रखकर रो रही थी, कि उन पापियों में से एक ने आकर मुझसे अपनी बुरी वासना जाहिर की। मैंने उस बुरी हालात में भी उसे बहुत धिक्कारा। इतने पर भी वह दुराचारी मुझसे बलात्कार करने लगा। मैं बड़ी ही कठिनता से अपने सतीधर्म की रक्षा करके आपके पास आ गई हूं। आज मैं अपने को बड़ी सौभाग्यवती समझती हूं, जो मेरा धर्म सुरक्षित रह गया। यह सब आप के ही पुण्य का माहात्म्य है।"

"प्राणनाथ! बड़े आश्चर्य की बात है, जो आपके रहते हुये भी मेरी यह दशा हो गई। उन पापियों की नीचता पर तो जरा विचार कीजिए कि एक आपके प्राणप्यारे पुत्र को उन्होने मार डाला और दूसरी आपकी धर्मपत्नी की बुरी दशा करनी चाही। हे स्वामी! मुझसे इन रंको के द्वारा किया हुआ यह घोर अपमान सहा नहीं जाता है। ऐसे अपमान को सहकर जीने से तो कहीं मर मिटना हजार गुना अच्छा है। हे जीवनसर्वस्व! सन्तोष तो मुझे तब ही होगा जब कि इन पापियों के मस्तकों को पृथ्वी पर ठोकरें खाते अपनी आंखों से देखूं और मैं भी उसे अपने पावों से ठुकराउँ"। उत्तर में खरदूषण ने कहा कि "प्रिये! इसकी चिन्ता तुम न करो। तुमसे अधिक कहीं मुझे दुख है। तुम महल में जाओं। मैं भी बदला लेने के लिए तैयारी करता हूं।" अपनी स्त्री को समझा बुझाकर खरदूषण युद्ध के लिए तैयार हुआ। उसकी यह युद्ध की तैयारी देखकर उसके मंत्रियों ने समझाया कि "महाराज! जरा धीरता रखिये इतनी

जल्दी काम नहीं हुआ करता है। जरा विचारिये तो जो खड्ग बारह वर्ष तपस्या कर सिद्ध किया गया था, उसे एक समय मात्र में जिसने हाथ में ले लिया, क्या वह साधारण पुरूष है? नहीं ऐसे महाबली पुरुष को जीत लेना भी साधारण काम नहीं हैं। इसलिये उचित तो यह है कि यह खबर लंका के महाराज के पास भी भेज देनी चाहिये। भानजे के शोक से दुःखी होकर वे भी अपनी सहायता करेंगे। मंत्रियों के कहे अनुसार खरदूषण ने यह सब हाल लंकाधीश के पास कहला भेजा।

उधर जब लक्ष्मण रामचन्द्र के पास पंहुचे, तो उनसे रामचन्द्र ने कहा – "समझे, वह कन्या कौन थी?" लक्ष्मण ने कहा "मैं तो जहां तक समझता हूं कि यह कोई राक्षसी अपने को देखने आई थी।" दोनों भाई तो परस्पर में कन्या के बाबत बातचीत कर रहे थे कि इतने में पुत्रशोक से दुखी होकर खरदूषण अपनी सेना को लेकर इनपर लड़ने के लिए चढ़आया। सीता आकस्मिक इतना भारी समारंभ देखकर बहुत डरी और भय की मारी, स्वामी! स्वामी! कहती हुई रामचन्द्र की गोद में जा गिरी। रामचन्द्र ने जब ऊपर दृष्टि उठाई, तब उन्हें भी कुछ सन्देह हुआ। उन्होंने धनुष की ओर आंख का संकेत करके लक्ष्मण से कहा "भाई जल्दी तैयारी करो। देरी का समय नहीं है। ये लोग छली जान पडते हैं, इनके विचार बुरे जान पड़ते है।" यह सुनकर लक्ष्मण ने कहा कि "स्वामी! आप किसी तरह की चिन्ता न करें मैं इसी समय जाकर इन लोगों को इनके कर्तव्य का प्रायश्चित दिये देता हूं। आप यहीं पर विराजे रहें क्योंकि सीता को ऐसी जगह छोड़ना उचित नहीं है। एक और प्रार्थना है। वह यह कि जब तक मैं वापिस न आ जाउं तब तक आप यहीं रहें। यदि मुझ पर अधिक विपत्ति पडेगी, तो मैं सिंहनाद करूंगा। उस समय मेरी सहायता करने को आप आइयेगा।" यह कहकर लक्ष्मण उठकर युद्ध भूमि की ओर चले। लक्ष्मण की धीरता ने विद्याधरों को चकित कर दिया।

युद्धभूमि में पहुंचते ही लक्ष्मण ने विद्याधरों की ओर दृष्टि उठाकर उन्हें ललकारा कि "हे विद्याधरों! ठहरों, कहां जाते हो? यदि कुछ वीरता रखते

हो तो, मुझे उसका परिचय दो।" लक्ष्मण का तो इतना कहना था कि वे सब चारों ओर से ऊसके उपर टूट पड़े, और लगे बांणों की वर्षा करने। सारी युद्धभूमि शरों से ढ़क गई। परन्तु लक्ष्मण को कोई हानि न पहुंची। लक्ष्मण कोई ऐसा वैसा साधरण मनुष्य तो था ही नहीं, जो इन लोगों से पराजित होता। यद्यपि वह एक ही था परन्तु फिर भी उसने हजारों विद्याधरों को सदा के लिये पृथ्वी में सुला दिया। खरदूषण की सारी सेना कर्तव्यहीन हो गई थी,शत्रु सेना के एक साथ आने वाले हजारों शरों को अकेला लक्ष्मण रोक देता था। इस तुमुल युद्ध में शत्रु की सेना में एक विराधित नामक विद्याधर भी था। उसने लक्ष्मण को अकेला ही लड़ता हुआ देखकर विचारा कि "खरदूषण मेरा शत्रु है। क्योंकि इसी पापी ने मेरे पिता का वध किया था। परन्तु उस समय मुझमें शक्ति के न होने से शत्रु की ही सेवा करनी पड़ी थी। इस समय बड़ा अच्छा अवसर मिला है। अब यदि पिता का बैर निकाला जाये, तो बहुत अच्छा हो। यह बड़ा वीर है। इसकी सहायता से मेरी इच्छा पूर्ण हो जायेगी।" यह विचार कर वह अपनी सेना को लेकर लक्ष्मण के पास गया और उसे नमस्कार कर बोला- "हे स्वामी! मैं आपकी सेवा करने के लिये आया हूं। पापी खरदूषण ने मेरे पिता मार डाला है। उसके बदले की इच्छा से ही मैं आपके पास सहायता के लिये आया हूं। आये हुये को सहायता देना आप सरीखे उत्तम पुरुषों का कर्तव्य है।" उत्तर में लक्ष्मण ने कहा कि "इसकी तुम चिन्ता न करो। मुझे एक बात तुमसे पूंछनी है वह यह कि तुम मुझे धोखा देने को तो नहीं आये हो? अस्तु आये भी हो, तो मुझे उसकी कुछ परवाह नहीं है। मैं तुम्हारी सहायता करूंगा।" उत्तर में विराधित ने कहा कि "महाराज! यह ख्याल कभी नहीं करें। मैं शपथपूर्वक कहता हूं। मुझे तो अपने पिता का बदला लेना जरूरी है। बस यही कारण मेरे आने का है। महापुरुष! खरदूषण बहुत बली है, सो उसे तो आप जीतें और बाकी सेना के लिये तो में अकेला ही बहुत हूं। यह कहकर विराधित तो खरदूषण की सेना से लड़ने लगा और लक्ष्मण की खास खरदूषण से मुठभेड़ हुई। विराधित ने जैसा कहा था, उसके अनुसार उसने खरदूषण की सेना अपने वश कर ली और लक्ष्मण ने खरदूषण को जीत लिया।

जब खरदूषण की पराजय का हाल रावण को मिला, तो वह उसी समय पुष्पक विमान में बैठकर खरदूषण की सहायता के लिये रवाना हुआ। रास्ते में आते समय दण्डक वन में उसे अकेली बैठी हुई सीता दीख पड़ी। उसके अनुपम सौन्दर्य ने आज त्रिखण्ड के राजा और राक्षसकुलभूषण वीर रावण को अपने वश में कर लिया। उसने उसको लाने के लिए बहुत उपाय किये परन्तु एक भी उपाय उसका चल नहीं सका। अन्त में उसने अपनी विद्या को उसे लाने को भेजी। विद्या गई भी , परन्तु वह भी कुछ नहीं कर सकी। रामचन्द्र सरीख तेजस्वी पुरुष के सामने उसे निष्प्रभतिभ होना पड़ा। वह आकर रावण से बोली कि "हे स्वामी! मेरी हिम्मत नहीं कि मैं सीता को रामचन्द्र के पास से उठा ला सकूं। सुनकर रावण ने उससे कहा- "अस्तु, तु नहीं ला सकती तो न सही। यह बता कि वह कैसे लाई जा सकती है? और रामचन्द्र यहां से कैसे हट सकेंगे?" विद्या बोली कि "हां, इसका एक उपाय है। वह यह कि युद्ध में से यदि लक्ष्मण सिंहनाद करे, तो रामचन्द्र उसे सुनकर वहां से अलग हो सकते हैं। रावण ने विद्या से कहा तुम यहां से थोड़ी सी दूर जाकर सिंहनाद करो। उसे सुनकर रामचन्द्र अपने भाई का सिंहनाद समझकर लक्ष्मण के पास जावेंगे।" रावण के कहे अनुसार विद्या ने किया। उसे रामचन्द्र और सीता ने सुन लिया। सीता रामचन्द्र जी से बोली कि "स्वामी! देखिये तो लक्ष्मण सिंहनाद कर रहे हैं। आप उनकी सहायता के लिऐ पहुँचिये। मालूम होता है, लक्ष्मण संकट में हैं।"

" रामचन्द्रजी उसी समय वहाँ से रवाना हुए और सीता की रक्षा के लिये जटायु पक्षी को उसके पास छोड़ गये। थोडी देर में वे लक्ष्मण के पास पहुचे गये। उधर रावण इसी ताक में था कि "कब रामचन्द्र यहां से जावें और अब मेरा अभिष्ट पूर्ण हो।" रामचन्द्र के जाते ही रावण सीता को अकेली बैठी देखकर उठा ले चला, जैसे पक्षी मांस पिण्ड को ले जाता है। जटायु रोती हुई सीता को ले जाते हुये रावण को देखकर उसके ऊपर झपटा और उसके पास पहुंच कर रावण के सारे शरीर को अपने तीखे २ नखों से घायल करने लगा।

यह देख रावण को बड़ा क्रोध आया। उसने उस बेचारे पक्षी को एक ऐसा जोर का थप्पड मारा कि अधमरा होकर पृथ्वी पर धड़ाम से गिर पड़ा। यह घटना जाते हुए रत्नजटी नाम के एक विद्याधर ने देखी। उसने आकर रावण से कहा "हे नीच विद्याधर! बेचारी एक अबला स्त्री को कहाँ लिए जाता है। तुझे इस घोर कर्म के करते लज्जा नहीं आती उस, बेचारे से सीता का रोना देखा न गया। वह निरूपाय हो रावणं से युद्ध करने लगे। अपने से एक छोटे से विद्याधर की ऐसी धृष्टता देखकर रावण को बड़ा क्रोध आया। उसने उसकी सब विद्याय छीनकर उसे समुद्र में डाल दिया जैसे कौई कटे पंख का पक्षी डाल दिया जाता है। परन्तु उसका पुण्य प्रकर्ष खूब था, इसलिए वहां पर भी उसे स्थल मिल गया। वह अपने कुछ कपड़े एक बांस में बांधकर इस अभिप्राय से ऊपर ध्वजा के समान उड़ाने लगा, जिससे किसी आकाशमार्ग से आने जाने वाले को इधर की नजर पड़ जाय।

उधर पापी रावण सीता को ले जा रहा था। रोती हुई सीता ने उससे कहा कि "पापी! नीच!! तू मुझे ले जाकर सुख भोग सकेगा? क्या तू नहीं जानता कि सब पाप तो एक ओर है और परस्त्री को सेवन का बहुत अधिक पाप होता है।" रावण ने कहा "सुन्दरी! तू यों ही व्यर्थ रोकर अपने को क्यों खराब करती है? तुझे तो आज अपना सौभाग्य समझना चाहिए।। जो तुझ पर विद्याधरों के अधिपति की कृपा हुई। रामचन्द्र मनुष्य है। उनसे तुझे उतना सुख नही मिल सकता, जितना मेरे द्वारा मिल सकता है। मेरी अठारह हजार रानियां है, उन सब में तुझे ऊँचा आसन दिया जायेगा। अर्थात् मेरी तू पट्रानी बनेगी। तेरे लिये बड़ी खुशी का दिन है। उसमें भी यदि तू रोती है, तो सचमुच तुझ सी अभागिन संसार में कोई नहीं होगी।" सुनकर सीता निडर होकर बोली "हे मुर्ख हे दुराचारी! क्यों तू बुरे वचनों के द्वारा पाप कर्म का बन्ध कर रहा है? रामचन्द्र मनुष्य है, रहो इससे क्या? तू मनुष्य का महात्म्य नहीं जानता, इसी से ऐसा कह रहा है। शायद तुझे अपने विद्याधर होने का अभिमान है। क्योकि मनुष्य तो आकाश में नही उड़ सकता और तू आकाश

में उड़ता है। परन्तु याद रख कि आकाश में उडने वाला काक पृथ्वी पर चलने वाले केसरी की समानता कभी नही कर सकेगा।" सीता बहुत कुछ रोई, बिलखी। परन्तु दुष्ट रावण ने उस बेचारी को नहीं छोड़ा। ले जाकर लंका के बगीचे में रख दी। वह प्रतिदिन उसे वश में करने के उपाय करने लगा। परन्तु जिस सती साध्वी ने अपना चित्त अपने प्राण प्यारे के चरणों में समर्पित कर दिया है। उसके लिये यह कब सम्भव था, वह अब दूसरे की अङ्कशायनी हो? कभी नही। अब कुछ रामचन्द्र की कथा का प्रसंग बताया जाता है।

जब रामचन्द्र लक्ष्मण के पास पहुंचे, तब वहां उन्होंने लक्ष्मण को अच्छी हालत में देखा। लक्ष्मण ने भी देखते ही रामचन्द्र से पूछा "पूज्य सीता को अकेली कहां छोड़ आये हो?" रामचन्द्र ने कहा "भाई! मैं तो तुम्हारा सिंहनाद सुनकर ही चला आया हूं।" लक्ष्मण ने कहा "स्वामी! मैंने तो सिंहनाद नहीं किया। जाना जाता है यह किसी दुष्ट की चाल है। उसने सीता के ले जाने की इच्छा की है। आप जल्दी जाइये। कुछ अमंगल की संभावना दीख पड़ती है। मैने इन सब विद्याधरों को अपने वश कर लिया है। अब सिंहनाद करने की क्या जरूरत थी?" सुनते ही रामचन्द्र वापिस आये। आकर देखते हैं, तो सीता स्थान पर नहीं हैं उन्होंने चारों और घूम -२ कर देखा परन्तु सीता का कहीं पता न चला। उन्हें एक जगह मरणासन्न जटायु पक्षी दीख पड़ा। उसकी मृत्यु होने वाली समझकर उसे उन्होने नमस्कार मंत्र सुनाया। उसके प्रभाव से जटायु स्वर्ग में जाकर देव हो गया। रामचन्द्र सीता के वियोग को न सह सके और मूच्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। जब ठन्डी वायु का स्पर्श हुआ। तब कुछ -२ चेतना आई। वे वियोग से इतने अधीन हो गये कि उन्हें अपने स्वरूप का भी भान नहीं रहा। वृक्ष और पर्वतों से भी अपनी प्यारी का हाल पूछने लगे।" हे पर्वतों! मैं अपनी प्यारी अभी थोड़ी ही देर हुई होगी कि तुम्हारे पास छोड़ गया था। अब वह यहां नही दिखाई पड़ती, कहो तो किधर गई है?" इतने में रामचन्द्र के शब्द की प्रतिध्वनि हुई, उन्होने समझा कि पर्वत ने मेरे प्रश्न का उत्तर दिया है। तब फिर रामचन्द्र ने कहा कि "जब तुमने उसे देखी है। तो

जल्दी बताओं कि वह किधर गई है? मुझसे उसका वियोग सहा नही जाता है।" बहुत कुछ उन्होंने इधर - उधर खोज की, परन्तु कहीं उसका पता नहीं चला। अन्त मे वे फिर मूच्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। सीता का वियोग उनके लिऐ बज्र के आघात का काम कर गया। इतने में ही लक्ष्मण और विराधित भी वहीं आ पंहुचे। लक्ष्मण अपने बड़े भाई की यह हाल देखकर समझ गये कि सीता नियम से हरी गई है। लक्ष्मण ने पहुंचकर भाई की अभिवन्दना की। परन्तु रामचन्द्र तो इस समय अपने आपे में ही न थे। उन्होने लक्ष्मण से कहा कि "तू कौन है? और क्यों ऐसे भयानक जंगल में आया है?" लक्ष्मण ने यह देखकर कहा कि "पूज्य! क्या मुझे भी भूल गये? मैं तो आपका दास लक्ष्मण हूँ।" सुनकर रामचन्द्र को कुछ स्मृति हो आई। उन्होने कहा "लक्ष्मण! प्यारे लक्ष्मण!! सीता को कोई पापी ले उड़ा है।" सुनकर लक्ष्मण को भी बहुत दुःख हुआ। दोनों मिलकर रोने लगे। विराधित ने उन्हें किसी तरह समझ ाबुझाकर रोने से रोका। विराधित भी बड़ी चिन्ता में पड गया। उसे अपने उपकारकर्ता के ऊपर अनायास दुःख आने से बड़ा दुख हुआ। यहीं पर विराधित से वानरवंशियों का स्वामी सुग्रीव आकर मिला और उसने अपने ऊपर बीती हुई सारी आपत्ति सुनाई। विराधित ने रामचन्द्र के दुःख का भी हाल उससे कह दिया। सुग्रीव ने कहा- "विराधित बात यह है कि यदि तुम्हारे स्वामी मेरा दुःख दूर कर देंगे, तो मैं भी उनकी स्त्री का हाल उन्हें जल्दी ला दूँगा। इस प्रतिज्ञा में कभी अन्यथापन न होगा।" विराधित ने यह हाल रामचन्द्र से जाकर कहा कि "हे महाराज! वानरवंशियों का राजा और एक अक्षोहिणी सेना का स्वामी सुग्रीव आपके पास आया है। वह कहता है कि "यदि श्रीराम चन्द्र स्त्री संबंधी दुःख मेरा दूर कर देगें तो मैं भी सातवें ही दिन उनकी प्राण प्यारी का हाल लाकर उन्हें सुना दूँगा। यदि आज्ञा हो तो उसे आपके पास उपस्थित किया जाये। रामचन्द्र के कहे अनुसार उनके सामने उपस्थित किया गया। सुग्रीव के आने पर उसका रामचन्द्र ने यथोचित आदर किया। दोनों की परस्पर कुशलपूर्वक वार्ता हुई। इसके बाद सुग्रीव लक्ष्मण से मिला। इन दोनों

के भी परस्पर कुशल प्रश्न हुये। जब सब स्वस्थचित्त हुये, तब रामचन्द्र ने सुग्रीव से पूछा कि "सुग्रीव! तुम्हें क्या दुःख है?" सुग्रीव ने कहा कि "महाराज! मेरी राजधानी किष्किन्धा है। मेरी तारा नामक स्त्री है। वह बड़ी खूबसूरत है। कोई दुष्ट विद्याधर उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो गया है। वह मुझ सरीखा रूप धारण कर मेरे घर में घुस गया है। मेरी प्रिया ने उसकी चाल ढ़ाल से यह जान कर कि यह खास मेरा पति नहीं है," उसे घर में नहीं आने दिया। तारा के आशय को समझकर उस दुष्ट ने मेरे घर की जो - २ गुप्त बातें थीं, वे सब वैसी की वैसी कह सुनाई। सुनकर मेरी प्यारी ने उससे कहा "हे दुष्ट! हे दुराशय!! तुने सब बातें तो मेरे स्वामी के सरीखे कह दी, परन्तु उनके सरीखे चलना तो अभी तक तुझे नहीं आया।" इतना उसका कहना था कि उसने मुझे अपने घर आता हुआ देखकर मेरी चाल भी सीख ली। उस समय तारा ने बड़ी होशियारी की, जो मुझे और उसे एक सरीखा देखकर घर के किवाड़ बन्द कर लिये।

जब मैं अपने घर के द्वार पर पहुंचा तब उस नकली सुग्रीव से कहा- "पापी! तू कौन है? और किस लिये ऐसा छल बनाकर घर में घुसना चाहता है? उत्तर में मेरी तरह उसने भी जबाब दिया कि तू मेरे घर में क्यों घुसा आता है?" इतना कह कर वह लड़ा भी। यह विचित्र लीला देखकर मंत्रियों ने दोनों को रोक दिया और कहा कि "जब तक इस बात का निर्णय न हो जायेगा कि, असली सुग्रीव कौन है तब तक किसी को घर भीतर नही घुसने दिया जायेगा।" हम दोनों ही घर के बाहर रहने लगे। मुझसे अपनी प्यारी का वियोग अधिक नहीं सहा गया, इसलिए मैं रावण के पास पंहुचा। परन्तु उसके द्वारा भी मेरा कुछ उपकार नही हुआ। इसकी जांच करने को बहुत से विद्याधरों और हनुमान आदि भी आये, परन्तु किसी की बुद्धि भी इसका फैसला नहीं कर सकी। अन्त में सब ओर से निरूपाय होकर मैं आपकी सेवा में आया हूं। मुझे आशा है कि आपके नियम से मेरा दुःख दूर हो सकेगा। आज मेरा बडा भारी पुण्य है, जो आप सरीखे महात्मा के पवित्र दर्शन हुए "महाराज! यही मेरी

दुःख भरी कहानी है।"

सुनकर रामचन्द्र ने कहा- "सुग्रीव! घबराओ मत मैं तुम दोनों की ठीक -२ जांच करके समस्या निराकरण कर दूंगा और तुम्हारी प्रिया तुम्हें दिलवा दूंगा। मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ। कि मैं तुम्हारा कार्य करूँगा। इसके बाद तुम्हें भी अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करनी होगी।" सुग्रीव ने रामचन्द्र के कहने को स्वीकार किया। इसके बाद सुग्रीव रामचन्द्र को अपनी राजधानी में लिवा ले गया और शहर के बाहर उसने उन्हें ठहरा दिया वहीं पर दूत भेजकर नकली सुग्रीव को युद्ध के लिये बुलवाया गया। वह भी अपनी विशाल सेना को लेकर युद्ध के लिए आया। दोनों सुग्रीव का युद्ध हुआ। सच्चा सुग्रीव मायामय सुग्रीव की गदा से मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा उसे उसके बन्धु अपने डेरे पर लिवा ले गये। मायामई सुग्रीव यह समझकर कि सुग्रीव मर गया। आनन्द मनाता हुआ घर चला। जब असली सुग्रीव सचेत हुआ तो उसने रामचन्द्र से कहा कि "महाराज! उस पापी को आपने क्यों जाने दिया? उत्तर में रामचन्द्र बोले क्या कहूं तुम दोनों एक ही सरीखे दिखते हो। इसलिये निश्चय नही किया जा सकता। कहीं धोखे में तुम्हारी मृत्यु हो जाती, तो बड़ा अनर्थ हो जाता। यही विचार कर हमने उसे छोड़ दिया। अस्तु कुछ चिन्ता नहीं है। उसे फिर बुलवाते हैं" यह कहकर रामचन्द्र ने उसी नकली सुग्रीव को फिर युद्ध के लिये बुलवाया। वह फिर भी बड़ी हिम्मत के साथ लड़ने को युद्धभूमि में आया। अबकी बार जहां रामचन्द्र के दिव्य रूप को देखा कि उसकी जो वैताली विद्या थी, वह तत्काल भाग गई। नकली सुग्रीव का अब वह स्वरूप नहीं रहा। वह साहसगति विद्याधर के रूप में आ गया। यह देख सबने असली सुग्रीव को पहचान लिया। सभी ने उसका बहुत सत्कार किया । सुग्रीव अपने पुत्रादि के साथ घर पर गया और वियोग से कृश हुई अपनी प्यारी के साथ आनन्द भोगने लगा। उसे आनन्द करते छह दिन बीत गये। रामचन्द्र के साथ की हुई प्रतिज्ञा का उसे कुछ भी ख्याल नहीं रहा।

उधर जैसे -२ दिन बीतने लगे, रामचनन्द्र का दुःख अधिकाधिक होने

लगा। उन्होंने एक दिन लक्ष्मण से कहा- "लक्ष्मण! देखो तो संसार की अवस्था। जब कि मनुष्य को दुःख होता है, तब तो वह उसकी निवृत्ति के बहुतेरे उपाय करता है। औा सबको खुशामद करता फिरता है परन्तु उसका काम निकल जाता है, फिर उसे किसी का ख्याल भी नहीं रहता, देखों सुग्रीव की बातें, जो अपना काम निकल जाने पर प्रतिज्ञा तक भूल गया। सच है, दूसरों में सच्ची भक्ति बताने वाला कोई विरला ही महात्मा होता है।" यह सुनकर लक्ष्मण को सुग्रीव की इस स्वार्थबुद्धि पर बड़ा क्रोध आया। वे उसी समय सुग्रीव के घर पर जा पहुंचे। उन्हें देखते ही सुग्रीव बहुत घबराया। वह अपनी स्त्री का हाथ पकड़कर सिंहासन से नीचे उतरा और लक्ष्मण को उस पर बिठाकर आप हाथ जोड़कर उनके सन्मुख बैठ गया। लक्ष्मण ने उससे कहा-"सुग्रीव! तुम्हारे लिये क्या यही उचित था? प्रतिज्ञा पूरी करना क्या इसे ही कहते हैं? हमारे भाई वन में बैठे हुये दुःख भोगें और तुम यहां आनन्द भोगां। स्त्री के विरह दुःख कठिनता जानते हुये भी तुम्हें दूसरे के दुःख का ख्याल भी नहीं आया, यह कितने आश्चर्य की बात है। तुम्हारा कुछ दोष नहीं। नीतिकार ने बहुत उत्तम कहा है। कि दूसरे के दुःख को अपना दुःख समझने वाले महात्मा बहुत विरले होते हैं। आज सात दिन हो गये वह तुम्हारी प्रतिज्ञा कहां गई? ठीक है जो स्त्रियों के सुख में लीन होते हैं, उन्हें अपने नियम व्रतादि का कुछ ख्याल नहीं रहता।"

सुग्रीव ने कहा -"स्वामी! आज है तो सातवां ही दिन न? यदि समय पूर्ण होते -२ मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी न करूँ तो मुझे दोष दीजियेगा।" इतनी प्रार्थना कर वह लक्ष्मण के साथ -२ रामचन्द्र के पास गया और चरणों में गिरकर उसने अपने अपराध की क्षमा मांगी। इसके बाद उसने सब विद्याधरों को आज्ञा दी "यदि तुम मेरा जीवन चाहते हो तो शीघ्र ही जाकर जहां हो वहां से साध्वी सीता के समाचार ले आओ"। सुग्रीव की आज्ञा होते ही सब विद्याधर सीता के समाचार लाने को चारों ओर रवाना हुए। उनमें से एक विद्याधर उधर भी जा निकला, जहां रावण ने रत्नजटी की सब विद्यायें छीनकर

उसे समुद्र में डालदिया था। रत्नजटी एक हाथ में ध्वजा लिये उधर आने जाने वालो के लिये इशारा कर रहा था। उसे देखकर वह विद्याधर आकाश से नीचे उतरा और रत्नजटी को पहचान कर उससे पूछा कि हे "मित्र! तुम यहां कैसे आ पड़े?" उत्तर में रत्नजटी ने कहा "मित्र! क्या कहूं? यह सब रावण की कृदा का फल है। उसने मेरी सब विद्यायें नष्ट कर डाली हैं, इसी से मैं यहां आकर गिरा हूं।" आये हुये विद्याधर ने फिर पूछा "रावण के साथ शत्रुता होने का क्या कारण है?" रत्नजटी बोला "रावण रामचन्द्र की स्त्री को हर कर ले जा रहा था। उसे रोती हुई देखकर मुझे बहुत दया आई। मैंने उसके पीछे -२ जाकर कहा कि "दुराचारी! इस रोती हुई बेचारी साध्वी बालिका को कहां लिये जाता है।" बस इतना मेरा कहना था, कि वह मारे क्रोध के मुझ पर टूट पडा मेरी सब विद्याये भी उसने उसी वक्त नष्ट कर दीं और मुझे यहां पटक दिया।" उसने पूछा "क्या यह बात सच है कि रावण ही सीता को ले गया है? और तुम उस ले जाने वाले को अच्छी तरह पहचानते हो?" रत्नजटी ने कहा-"आप इसमें बिल्कुल संदेह न करें मैं ठीक -२ कह रहा हूँ।" जब उस आये हुये विद्याधर को यह विश्वास हो गया कि सीता को रावण ही हर कर ले गया है, तब रत्न जटी को अपने विमान में बैठाकर वह उसे सुग्रीव के पास कष्किन्धापुरी में ले गया और सुग्रीव से उसकी भेंट करा दी। रत्नजटी ने वह सब घटना सुग्रीव से भी कह सुनाई जो उस पर बीती थी। सुनकर सुग्रीव को भी बहुत आनन्द हुआ। वह उसे रामचन्द्र के पास लिवा ले गया। सुग्रीव ने वहां पहुँचकर रामचन्द्र से हंसकर कहा "महाराज! यह रत्नजटी सीता का बहुत हाल जानता है। आप इसे एकान्त में ले जाकर सब विस्तार से पूछ लें। रामचन्द्र ने उसे एकान्त में जाकर सब पूंछ लिया। रत्नजटी ने जैसा कुछ देखा था, वैसा का वैसा ही कह सुनाया। रामचन्द्र ने रावण की नीच वृत्तिपर उसे परोक्ष में धिक्कार कर कहा हे नीच! हे विद्याधरकुल कलंक!! देखूं, तू मेरी प्रिया को लेजाकर कैसे सुख पूर्वक जीता है? "उन्होंने साथ ही सामन्तों पर आज्ञा की कि "वीरों! जल्दी तैयारी करो। आज हमें रावण की राजधानी में

चलना है और उसे पराजित कर उससे प्रिया को छुड़ाकर लाना है।" उत्तर में उन्होनें कहा कि "महाराज! वह कोई साधारण पुरुष नहीं है। इसलिए पहले यह बात जानना जरूरी है कि माता सीता वहाँ सचमुच है या नहीं? तो कहां पर है? और रावण इस समय किस काम में लग रहा है? इसके बाद उचित उपाय विचारकर करना चाहिए।" रामचन्द्र ने उनका कहना स्वीकार किया और पहले सब हाल जान लेने के लिये आज्ञा दी परन्तु प्रश्न यह आकर उपस्थित हुआ कि कौन जावे? सभी ने विचारकर निश्चय किया कि इस काम को करने के योग्य हनुमान ही है और कोई इसे नहीं कर सकता । इसलिए उसे बुलवाना चाहिए । सबके विचारानुसार हनुमान को बुलवाया गया हनुमान रामचन्द्र के आदेश के अनुसार उसी समय आकर उपस्थित हो गया और रामचन्द्र तथा सुग्रीव से बडी नम्रता के साथ मिला। सभी ने उसकी विनीतता की खूब प्रशंसा की और यह भी कहा कि हनुमान प्रबल प्रतापी है, वह सीता की खबर लंका जाकर ला सकेगा। सुनकर हनुमान ने कहा "आप चिन्ता न करें मैं लंका जाउँगा और जनकनन्दिनी की कुशलता पूर्वक लाउँगा।" हनुमान की धीरता देखकर रामचन्द्र बहुत खुश हुए। उन्होंने एकान्त में ले जाकर हनुमान से कहा कि "मैं तुम्हें यह अंगूठी देता हूँ। इसे सीता के सामने रखकर उससे कहना कि "तुम्हारे छुड़ाने का उपाय किया जा रहा है। चिन्ता न करना" इतना कह कर वे बोले कि अब तुम जाओं विलम्ब मत करो।" हनुमान रामचन्द्र को नमस्कार कर और अंगूठी लेकर लंका की ओर रवाना हो गया। रास्ते में उसे एक विद्या मिली। उसकी कुछ परवाह न कर वह उसका उदर चीरता हुआ चला गया और धीरे- २ लंका में जा पहुंचा। वहां पहुंचकर एक आदमी से उसने पूछा कि "क्यों !भाई तुम्हें यह बात मालूम है कि रावण रामचन्द्र की स्त्री को चुराकर ले आया है? और यदि मालूम हो तो यह भी बता दो कि वहां कहां ठहराई गई है? तुम्हारी बड़ी कृपा होगी।" उस मनुष्य ने सीता का पता हनुमान को बता दिया। उसके कहे अनुसार हनुमान वहां एक वृक्ष पर चढ़ गया और छिपकर सब हाल देखने लगा। उसने देखा कि कामी

रावण ने अपनी मन्दोदरी आदि स्त्रियों को सीता के पास भेजा है। वे पास आकर बोलीं कि हम तेरे सुख का उपाय करतीं हैं। हम नही चाहतीं कि तुझे किसी तरह का दुःख उठाना पड़े। देख रावण सब विद्याओं का स्वामी है। उसके अच्छी सुन्दर- २ दो हजार युवतियाँ भी हैं। तुझे अपना सौभाग्य समझना चाहिए, जो आज वह तुझे अपनी सब स्त्रियों में प्रधान प्रिया बनाना चाहता है। तू स्वंय अपने चित में विचार कि इससे और अधिक क्या पुण्यकर्म हो सकता है? रामचन्द्र साधारण मनुष्य हैं।

उनसे उतना लाभ तू नहीं उठा सकती कि जितना रावण को अपना प्रियतम बनाकर उठावेगी।" इस प्रकार और भी बहुत सी बातें मन्दोदरी सीता से कहती रही। सीता को मन्दोदरी की इस निर्लज्जता पर बड़ा क्रोध आया। वह उसे फटकार उससे बोली कि "हे मन्दोदरी! तेरी तो पवित्रता स्त्रियों में बड़ी प्रशंसा सुनती थी, परन्तु आज यह नदी का उल्टा बहना कैसा? मुझे ऐसा कहते हुये कुछ लज्जा आनी चाहिए कि मैं कुलीन होकर आज क्या अनर्थ करती हूँ। मैं नही जानती थी कि तेरा कुल ऐसा होगा। क्या सचमुच यही तेरे कुल की मर्यादा है? यदि वास्तव में यही बात है तो पहले तू ही यह बात बता कि तूने आज तक कितने पति किये हैं, तू मुझे बड़ी मूर्खा जान पड़ती है, जो तुझे इतना भी विचार न हुआ कि कुलीन कन्या का एक ही पति होता है। बस खबरदार अब ऐसे अश्लील वचन मुख से न कहना।" सीता की फटकार मन्दोदरी को बहुत बुरी लगी। वह जलकर खाक हो गई। उसने सीता को दुःख देना चाहा था कि इतने में वृक्ष पर से हनुमान उतरा और मन्दोदरी आदि को कुछ अपने किये का फल देकर सीता के पास पंहुचा। सीता को नमस्कार कर उसने रामचन्द्र की दी हुई अंगूठी उसके सामने रख दी। अंगूठी को देखकर सीता बहुत आनन्दित हुई उसने हनुमान से पूंछा कि "भाई! तुम्हारा नाम क्या है और कहां से चले आते हो।" उत्तर में हनुमान ने कहा "रामचन्द्र का सेवक हूं। मेरा नाम हनुमान है, सुग्रीव के कहे अनुसार रामचन्द्र ने मुझे तुम्हारी कुशलवार्ता लाने के लिये भेजा है। "सुनकर सीता को बहुत खुशी हुई। उसने

फिर पूछा "भाई! रामचन्द्र और लक्ष्मण कुशल तो हैं?" हनुमान बोला कि "तुम चिन्ता न करो। वे दोनों भाई बहुत अच्छी तरह से हैं। वे अभी किष्किन्धापुरी में सेना के साथ ठहरे हुये हैं। वे बड़े पुण्य पुरुष हैं। अब उनके साथ विद्याधरों का स्वामी सुग्रीव भी हो गया। वे बहुत ही जल्दी यहां तुम्हें छुडाने के लिये आवेगें।" इस प्रकार उसने सीता को बहुत कुछ ढ़ाढ़स बँधाई। सीता जब से यहां लाई गई तभी से भूखी थी। उसने कुछ नहीं खाया था सो हनुमान ने उसी समय भोजन सामग्री लाकर उसे भोजन कराया। भोजन के बाद फिर भी रामचन्द्र की प्रेमकथा वह सीता को सुनाने लगा।

जब मन्दोदरी को हनुमान ने उसके किये का फल दिया, तो वह दौड़ी हुई अपने प्रियतम के पास गई और रोकर हनुमान की सब बात उससे कह दी । सुनकर रावण बड़ा क्रोधित हुआ, उसने अपने सैनिक वीरों से कहा कि "तुम अभी जाओ और उस पशु की जो सीता के पास बैठा हुआ है खबर लो।" आज्ञा के होते ही बहुत से सैनिक वीर हनुमान पर चढ़कर आये। उन्हें आते हुये देखकर हनुमान भी झट से आकाश में जाकर उनसे निडर होकर लड़ने लगा। बडे- २ वृक्षों को उखाड़कर उनसे वह रावण की सेना को मृत्युशय्या पर सुलाने लगा। अपने भीषण युद्ध से थोड़ी ही देर में उसने सारी सेना हरा दी और फिर स्वंय रावण के पास आकर उससे बोला कि "हे विद्याधराधिपति! तू बड़ा बुद्धिमान समझा जाता था। तुझे यह मूर्खता कैसे सूझी, जो दूसरे की स्त्री के द्वारा सुख भोगने की इच्छा करता है? तू यह नहीं जानता कि उसका स्वामी रामचन्द्र कितना प्रतापी है? और उसका भाई लक्ष्मण भी । तू ऐसे वीर की स्त्री को लाकर क्या अपना जीवन सुख से बिता सकेगा। मुझे तो यह संभव नहीं दीख पड़ता।" इसी प्रकार हनुमान ने उसे बहुत फटकारा। सुनकर रावण बड़ा क्रोधित हुआ। उसने अपने नौकरों से कडक कर कहा कि "बड़े आश्चर्य की बात है कि यह कितना अपमान कर रहा है और तुम इसके मुख के सामने ही देख रहे हो। जल्दी इसका सिर काट डालो।" स्वामी की आज्ञा पाते ही सेवक उसपर टूट पड़े परन्तु फिर भी वह

उसका कुछ न कर सके। हनुमान झट से आकाश की ओर चला गया और रावण की धृष्टता पर क्रोधित होकर उसने सारी लंका में आग लगा दी। इसके बाद वह दौड़ा हुआ सीता के पास आया और कुछ अभिज्ञा न (निशानी) देने के लिए प्रार्थना की। वियोगिनी सीता ने उसे चूड़ारत्न देकर और रामचन्द्र के लिये कुछ शुभ समाचार कहकर बिदा किया। हनुमान सीता को नमस्कार कर वहां से रवाना हुआ और थोड़े ही समय में रामचन्द्र के पास उपस्थित हुआ। बाद में सीता का दिया हुआ चूडारत्न उनके सामने रखकर उसने सीता के कहे वचन उन्हें सुनाये। उन्होंने जो -२ बातें सीता के सम्बन्ध में पूंछीं उनका उत्तर देकर हनुमान ने उनके चित्त को बहुत सन्तोषित किया।

इसके बाद यह हाल सुग्रीवादिक को भी मालूम हुआ। वे सब मिलकर इस पर विचार करने लगे कि "अब हमें क्या करना चाहिए? रावण कैसे जीता जा सकता है? सीता कैसे लाई जायेगी? और कैसे हम रामचन्द्र को सन्तोष कर सकेगें? हम लोगों ने रामचन्द्र की ओर होते वक्त तो कुछ भी नही विचारा और झट से उनमें आ मिले परन्तु, जब रावण यह हाल सुनेगा तब क्रोध में अन्धा होकर वह हमारा बुरा करने से कैसे चूकेगा? हमें यह भी अभी ठीक नही मालूम है कि रामचन्द्र और लक्ष्मण कैसे वीर हैं? और जब तक हम उनकी पराक्रम शक्ति का ठीक -२ परिचय न पा लेवें, तब तक हमें अपने जीतने की आशा करना भी व्यर्थ है। इसलिए सबसे पहले इनके बल की जांच करनी चाहिये। वह जांच उनके कोटिशिला के उठा लेने पर हो सकेगी। क्योंकि कोटि शिला वही उठा सकता है जो नारायण हो और वही प्रति नारायण का मारने वाला होता है। रावण प्रतिनारायण है यह हम अच्छी तरह जानते है। जबकि हमारी जांच ठीक हो जाये तब फिर इन दोनों भाईयों का साथ देने में कोई हानि नही हैं अन्यथा रावण के द्वारा इनका और हमारा भी सर्वनाश होगा।" विद्याधरों के इस विचार को विराधित ने जाकर रामचन्द्र से कह दिया यह सुनकर लक्ष्मण ने बड़ी निर्भीकता से कहा कि "ये लोग क्यों इतनी कायरता दिखाते है। सब मिलकर शिला के पास चलें। में नियम से उसे उठाकर अपने

पराक्रम का ज्ञान सबको करा दूंगा।" लक्ष्मण के कहे अनुसार विद्याधर और वानरवंशी मिलकर अच्छे मुहूर्त में रामचन्द्र और लक्ष्मण के साथ कोटिशिला के पास गये। वहां पंहुचते ही लक्ष्मण ने उस एक योजन चौड़ी और चौकनी सर्वतोभद्र नामक शिला की आठ द्रव्यों से पूजा की और फिर उसे नमस्कार कर अपने होथों से जांध के बराबर उठा ली। लक्ष्मण की यह अनुपम वीरता देखकर देवों ने उसकी प्रशंसा की, उस पर फूल वर्षाये और अनेक तरह के बाजे बजाये। उसी दिन से यह भरतखण्ड में आठवां वासुदेव प्रसिद्ध हुआ। यही रावण के वंश का पूर्ण नाश करेगा यही पुरुषोत्तम है। इस तरह देवों के द्वारा जब अन्य विद्याधरों ने लक्ष्मण की प्रशंसा सुनी तब उन्हें यह निश्चित हो गया कि "यह रावण का नाश करेगा।" उस समय विद्याधरों ने बड़ी खुशी मनाई दोनों भाईयों की पूजन के, पश्चात् वे अपने सुन्दर विमान पर उन्हें बैठाकर किष्किन्धापुरी में ले आये।

अब रावण से युद्ध होना निश्चय हो गया, सब विद्याधर अपनी -२ सेना इकट्ठी करने लगे और सेना ले ले कर रामचन्द्र के दल में मिलने लगे। सीता के भाई भामण्डल के पास भी दूत भेजा गया वह भी एक हजार अक्षौहिणी सेना लेकर उपस्थित हुआ। सुग्रीवादि भी अपनी -२ सेना लेकर आ गये। रामचन्द्र के पुण्य से उस समय विद्याधर और वानरवंशियों की अगणित सेना इकट्ठी हो गईं । इतनी अपारसेना देखकर रामचन्द्र और लक्ष्मण को बहुत बड़ी खुशी हुई। जब सेना सजकर तैयार हो गई, तब उसे चलने के लिए आज्ञा दी गई। सब सेना के लोग अपने-अपने विमानों पर चढ़कर लंका की ओर रवाना हुऐ। बीच में समुद्र लाघंकर वे त्रिकूटाचल पर आये। उन्होंने राक्षसों की राजधानी लंका खूब सजी हुई देखी। लंका के चारों ओर एक विशाल प्रकार था, लंका के देखते ही रामचन्द्र की सेना को अच्छे-अच्छे शकुन हुए। रामचन्द्र और लक्ष्मण को इससे बड़ा भारी आनन्द हुआ, जब इनके आने का हाल रावण को मालूम हुआ तब उसे बड़ा क्रोध आया परन्तु वह उनका कुछ भी नहीं कर सका।

एक दिन की बात है कि सीता तो अपनी रक्षा किये हुए धीरता के साथ वन में बैठी हुई थी और रात्रि के वक्त रावण वहाँ पहुँचा और उसने बहुत से उपद्रव करने आरंभ किये। राक्षस, भूत, पिशाच, डाकिनी, सर्प, हाथी और सिंह आदि भयंकर जीव-जन्तु, गर्जना करते हुए उसे दिखलाये, पानी बरसाया, अग्नि की भयंकर लीला प्रज्वलित की और बड़े-बड़े पहाड़ों के टूटने का शब्द किया, ऐसे भयंकर उपद्रवों से अच्छे-अच्छे वीर पुरुषों की भी हिम्मत जाती रहती है। उनके अकस्मात् देखने से सीता को डर तो अवश्य लगा, परन्तु उसने अपने अखण्ड शीलव्रत को किंचित भी मलीन न होने दिया। उसने उपद्रवों के द्वारा मर जाना अच्छा समझा, परन्तु रावण का आश्रय लेना उचित न समझा। उसने अपनी रक्षा की प्रार्थना किसी से न की। इसी तरह वह नराधम सारी रात उस पर उपद्रव करता रहा। परन्तु जनक नन्दिनी के सुमेरू समान हृदय को किसी तरह विचलित न कर सका। अन्त में निराश होकर वह अपने घर पर चला गया। सीता की अप्राप्ति में काम उसे अधिकाधिक अधीर करने लगा, परन्तु परवशता से उसे मन मारकर रह जाना पड़ा। जब यह हाल विभीषण को मालूम हुआ तो उसे बड़ी दया आई, वह सीता के पास गया और उससे पूछा कि "हे माता! क्यों रो रही हो?" उत्तर में सीता ने अपनी सब कहानी सुना दी, सुनकर उसे बड़ा दुःख हुआ। वह वहाँ सीता को विश्वास देकर रावण के पास आया और उससे बोला कि "हे पूज्य! आप तो स्वयं विद्वान हैं, यह आप अच्छी तरह जानते हैं कि परस्त्री सेवन करने से बुराईयाँ उत्पन्न होती हैं। इसलिए मैं विनीत होकर प्रार्थना करता हूँ कि आप जिसकी स्त्री लाये हैं उसे उसी के सुपुर्द कर दें तो अच्छा हो। ऐसा करने से हमारे कुल की कीर्ति चारों ओर फैलेगी। आप जरा शान्त होकर विचार करें, इसमें अपनी भलाई भी होगी, हे महाभाग! अन्याय करने से लाभ न तो हुआ है और न होगा। सुख के लिए धर्म सेवन करना उचित है। धर्म से सीता ही क्या किन्तु उससे भी कहीं अच्छी-अच्छी सुन्दरियाँ स्वयमेव धर्मात्मा पुरुष को अपना पति बनाती हैं। आशा है कि आप बुरी वासना को अपने चित्त से हटा देंगे। देखिये

रामचन्द्र यहाँ आ पहुँचे हैं वे अभी राजधानी के बाहर ही हैं। यदि आप सीता को उन्हें सौंप देंगे तो वे वहीं से खुश होकर लौट जावेंगे और कुछ भी झगड़ा न होगा। अन्यथा वे तो अपनी प्रिया को लेने को आये हैं, सो लिवा ही जावेंगे। परन्तु उस हालत में भारी हानि होने की संभावना है। इसलिए बैर न बढ़ाकर शान्त हो जायें तो बहुत अच्छा हो। शान्ति का उपाय सीता को वापिस दे देना है, बस यही मेरी प्रार्थना है अब जैसा आप उचित समझें वैसा करें।

विभीषण के समझाने का उस पर उल्टा प्रभाव पड़ा, शान्ति की जगह क्रोध ने उसे विवश किया, वह विभीषण से बोला कि "पापी! तू मेरा भाई होकर भी मेरे दोष का उल्लेख करता है और 'रामचन्द्र' जो कि न जाने कौन हैं उसकी प्रशंसा करता है तुझे कहते हुए लज्जा भी नहीं आती? बस मैं, इससे अधिक तुझ सरीखे दुष्ट से कुछ कहना नहीं चाहता हूँ और न सम्बन्ध ही रखना चाहता हूँ। खबरदार! अब जो कुछ भी मुँह में से वचन निकाला तो, तेरी खैर इसी में है तू यहाँ से निकल जा। अब तुझे इस शहर में रहने का अधिकार नहीं है।" उत्तर में विभीषण ने कुछ न कहकर केवल इतना ही कहा कि "अच्छा,तुम्हारी जैसी इच्छा होगी वही होगा। मैं भी ऐसे अनीति करने वाले राजा के अधिकार में नहीं रहना चाहता।" इतना कहकर विभीषण अपनी सेना को लेकर लंका से निकल गया और सुग्रीव से जाकर मिला। उसने अपने आने की सब कथा सुग्रीव से कह सुनाई। सुनकर सुग्रीव बहुत खुश हुआ। वह रामचन्द्र के पास जाकर बोला कि "महाराज! विभीषण रावण से लड़कर आया है," सुनकर रामचन्द्र भी बहुत खुश हुए, उन्होंने उससे मिलने की इच्छा की। सुग्रीव जाकर विभीषण को रामचन्द्र के पास लिवा लाया और दोनों की उसने भेंट करा दी। रामचन्द्र ने विभीषण को गले से लगाकर उससे पूछा कि "लंकाधिराज! अच्छी तरह तो हो? अब तुम सब चिन्ताओं को छोड़ो और विश्वास करो कि तुम्हें लंका का राज्य दिया जायेगा।" विभीषण ने कहा "जैसा आप विश्वास दिलाते हैं वैसा ही होगा क्योंकि, महात्माओं के वचन कभी झूठें नहीं होते। बाहर निकला हुआ हाथी का दांत फिर भीतर नहीं घुसता।"

रामचन्द्र ने फिर भी यही कहा कि "सब अच्छा होगा। तुम निश्चिन्त रहो।" उस समय वानर वंशियों को विभीषण के अपने पक्ष में मिल जाने से बड़ी खुशी हुई। सच है, अच्छे पुरुष के मिलने से किसे आनन्द नहीं होता? जब विभीषण के रामचन्द्र से मिल जाने का हाल रावण को मालूम हुआ तो वह भी उसी समय तैयार हुआ और अपने शूरवीरों को तैयार होने की उसने आज्ञा दी। स्वामी की आज्ञा पाते ही इन्द्रजीत मेघनाथ और कुम्भकर्ण आदि जितने वीर योद्धा थे वे सब रावण के पास उपस्थित हुये। यह देख रावण अपनी सब सेना को साथ लेकर और बन्दीजनों के द्वारा अपना यशोगान सुनता हुआ लंका से बाहर हुआ। रावण की सेना बहुत थी, उससे सारा आकाश मण्डल आच्छादित हो गया था। उसकी चार हजार अक्षौहिणी सेना के सामने आने की दैत्यों की भी हिम्मत नहीं पड़ती थी, फिर मनुष्यों की तो बात ही क्या है? सारा आकाश और पृथ्वी सेना में दीख पड़ती थी। सेना युद्धभूमि में उपस्थित हुई कि बाजों के शब्द होने लगे, हाथी चिंघाड़ मारने लगे, घोड़े हींनने लगे, रथों के पहियों के चरड़-चूँ-चरड़ चूँ शब्द होने लगे, भाट शूरवीरों का यश गाने लगे, शूरवीर खूब जोर-जोर से हँसने लगे और धनुष पर डोरी चढ़ाने का शब्द होने लगा। कहने का अभिप्राय यह है कि उस समय सारा संसार शब्दमय हो गया। इस भयानक कोलाहल के मारे एक का शब्द दूसरा नहीं सुन पाता था। युद्ध की इस भयंकरता को देखकर कायर लोगों के हाथों से शस्त्र गिर पड़े। वीरों को बड़ा आनन्द हुआ। उनके पुराने घाव फिर नये हो गये, फटकर उनमें से खून बहने लगा, कवचों की सन्धियाँ टूट गईं। यह कोलाहल देखकर रामचन्द्र ने जान लिया कि "रावण भी सेना लेकर आ चढ़ा है।" उन्होंने अपनी सेना को भी तैयार होने की आज्ञा दी। सेना तैयार हुई, दोनों वीरों ने अपनी-अपनी सेना को लड़ने की आज्ञा दी, अपने-अपने स्वामी की आज्ञा पाते ही दोनों सेनायें परस्पर भिड़ गईं युद्ध, का सूत्रपात हुआ।

हाथियों से हाथी और घोड़ों से घोड़े भिड़े, रथों से रथों की टक्करें हुई, पैदल चलने वाली सेना अपने साथियों से भिड़े और बाण से लड़ने वाले

अपने साथियों से भिड़े। आकाश बाणों से छा गया, चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार दिखाई देने लगा। हाथियों को हाथी गिराने लगे, घोड़ों का घोड़ों से नाश होने लगा, बहुतों के हाथों से शस्त्र गिरने लगे, एक का हाथ पकड़ कर एक खींचने लगा, परस्पर मुट्ठियों से मारने लगे, कितने वीर पुरुष अपने एक हाथ के कट जाने से दूसरे हाथ से शत्रु को मारने लगे, कितनों का धड़ युद्धभूमि में नृत्य करने लगा, कितने चिल्ला-चिल्ला कर शत्रु को पुकारने लगे और कहने लगे कि "अभी क्यों मरना चाहता है जा अपने स्त्री पुत्रादि से मिल और आनन्द भोग। युद्ध में प्राण देने से क्या होगा? अथवा मेरे सामने आ, मैं तुझे युद्ध का मजा दिखलाऊँ।" उधर दूसरे ने कहा "जरा स्वस्थ हो ले अपने विखरे हुए केशों को सम्हाल और पीछे युद्ध करने को तैयार हो।" इतने में तीसरे ने कहा कि "युद्ध में मरकर क्या लाभ उठावेगा? तू मेरे पास चला आ फिर तुझे कोई नहीं मार सकेगा।" इस समय युद्ध भूमि की शोभा ही विलक्षण दीख पड़ती थी। वह खासी समुद्र की श्री को धारण किये थी, समुद्र में बड़े-बड़े जलहाथी होते हैं उनकी जगह युद्ध भूमि में मरकर गिरे हुए हाथी थे, समुद्र में बड़ी-बड़ी मछलियाँ होती हैं युद्धभूमि में उनकी जगह घोड़े थे। समुद्र में छोटी-छोटी मछलियाँ होती हैं युद्धभूमि में उनकी जगह घोड़ों के पांव थे, समुद्र में जल रहता है युद्धभूमि में उसकी जगह खून का स्रोत बह रहा था, समुद्र में फेन होते हैं उनकी जगह युद्धभूमि में राजाओं के सिर पर रहने वाले श्वेत छत्र थे, समुद्र में रत्नराशि होती है युद्धभूमि में उनकी जगह हाथियों की सूंड़ें थी, समुद्र में नाना प्रकार की धातुएँ होती हैं उनकी जगह युद्ध भूमि में अनेक तरह के सुवर्ण-चाँदी आदि के भूषण थे।

जो लोग डरपोक थे जिनका तेज बिल्कुल नष्ट हो चुका था वे बेचारे तो इस समुद्र के पार तक न पहुँचने पाये थे कि बीच में उन्हें ही अपनी जीवन लीला संवरण करनी पड़ी। जो हिम्मत वाले व बहादुर थे, वे शक्ति भर उसके पार होने के उपाय करने लगे। इस भीषण युद्ध में रामचन्द्र की सेना ने रावण की सेना को मार भगाई। यह देख रावण स्वयं उठा और अपने भागते हुए

वीरों को उसने ललकारा। कहा कि "वीरो! यह भागने का समय नहीं है, ठहरो और इन पामरों को मारकर विजयश्री प्राप्त करो। वे लोग कायर हैं जो युद्ध में पीठ दिखाते हैं, तुम ऐसे वीर होकर इन थोड़े से मनुष्यों की सेना से डरकर भागे जाते हो? क्या यही तुम्हारी वीरता है? युद्ध से भागकर अपने कुल को कलंकित न करो किन्तु, यश लाभ कर स्वर्ग प्राप्त करो। रावण के कहते ही वीरों का हृदय जोश के मारे उमड़ उठा, वे आकर रामचन्द्र की सेना पर टूट पड़े। उन्होंने देखते ही देखते रामचन्द्र की सेना को व्याकुल कर दिया। वह रावण के प्रबल प्रताप को न सहकर भाग निकली। यह देख लक्ष्मण ने कहा "यह सेना क्यों भागती है?" उत्तर मिला कि रावण के प्रताप को न सह सकने के कारण सेना भाग रही है। लक्ष्मण ने अपने वीरों को ललकारा कि "वीरो! भागो मत, तुम्हारा सेनापति आगे होकर अभी रावण की वीरता का परिचय दिये देता है। तुम अभी अपनी आँखों से देखोगे कि रावण की क्या गति होती है?" यह कहते-कहते लक्ष्मण अपने वीरों को साथ लिए हुए युद्धभूमि में जा पहुँचा। रावण लक्ष्मण को देखकर कुछ हँसा और बोला "कि तू अभी तो बालक है, क्यों तुझे अपनी मृत्यु से डर नहीं है? मुझे तेरी इस बाल्य अवस्था पर बड़ी दया आती है, नहीं जान पड़ता कि तुझे मृत्यु क्यों अच्छी लगती है?" सुनकर लक्ष्मण ने रावण से कहा "तू बड़ा ही ढ़ीठ है, जो चोरी करके भी साहूकार बनने का दावा रखता है, मैं बालक हूँ, तो भी क्या हुआ? तेरे कर्म का फल तुझे देने के लिए तो अच्छी तरह समर्थ हूँ।" परस्पर के इस कठोर भाषण ने दोनों को अभिमानी बना दिया, दोनों ही 'मानी वीर' ताल ठोककर युद्धभूमि में उतर पड़े। लड़ाई आरम्भ हुई, एक की मुष्ठी एक पर पड़ने लगी, वे दोनों युद्ध में बड़ी जल्दी करते थे। किस समय वे मुट्ठी बांध लेते थे और कब मार देते थे, इसका देखने वालों को कुछ भी पता नहीं चलता था। उनके चक्र, बाण और भाला आदि शस्त्रों का युद्ध बड़ा भीषण होता था। लोग उसे देखकर आश्चर्य करते थे। इस युद्ध में लक्ष्मण की विजय हुई। उसने रावण को आकुल कर दिया, उसके हाथी को गिरा दिया, रावण अपने हाथी को बेकाम

देखकर उससे उतर पड़ा और उसी समय उसने लक्ष्मण के ऊपर शक्ति चलाई। शक्ति व्यर्थ न जाकर लक्ष्मण को लगी। उससे वह मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। यह हाल रामचन्द्र को मालूम हुआ। वे उसी समय लक्ष्मण के पास आये और लक्ष्मण को मूर्च्छित देखकर स्वयं भी मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। उनका शीतलोपचार किया गया। कुछ समय बाद वे सचेत हुए। भाई की यह हालत देख वे बहुत दुःखी हुए। युद्ध रुकवा दिया गया। रावण से रामचन्द्र ने कहा कि "हमारे भाई की तबियत बहुत खराब है, युद्ध बन्द कर दिया जाये।" उनके कहे माफिक रावण ने युद्ध बन्द कर दिया, रावण यह समझ कर कि मैं सर्वथा विजयी हुआ अब मुझे किसी का डर नहीं है अपनी राजधानी में चला गया और सुखपूर्वक रहने लगा। इसी अवसर में अष्टाह्निक पर्व आ गया। सब धर्मध्यान में लग गये, किसी को युद्ध का ध्यान तक न रहा।

उधर वे युद्ध भूमि से लक्ष्मण को डेरे पर लिवा ले गये, कुटिल रावण का अधिक भय होने से उसकी रक्षा के लिए विद्या प्रबन्ध किया गया। रामचन्द्र को तो सिवाय रोने के और कुछ नहीं सूझता था। उनकी यह हालत देखकर सुग्रीव विभीषण आदि को बड़ी चिन्ता हुई, उन्होंने रक्षा का और भी कड़ा प्रबन्ध किया। रामचन्द्र दुःखी होकर भामण्डल से बोले कि "तुम अपनी बहिन के पास जाओ और उससे कहो कि तुम्हारे लिए लक्ष्मण ने अपने प्राण दे दिये हैं और अब उसके साथ-साथ रामचन्द्र भी अग्निप्रवेश करेंगे। तुम अपने कुल की रीति न छोड़ना।"

रामचन्द्र अधीर हो उठे, उनसे वह दुःख सहा नहीं गया। वे रोकर कहने लगे कि "हाय! मैं बड़ा ही पापी हूँ, जो मुझे असमय में यह यंत्रणा भोगनी पड़ी। प्यारे भाई का मुझे वियोग हुआ, मुझे इस बात का और भी अधिक दुःख है कि मैं विभीषण के सामने झूठा होऊँगा। वह मुझे क्या कहेगा? जो हो मैं उससे क्षमा चाहता हूँ। भाई विराधित! तुम चिता तैयार करो, भाई के साथ-साथ मैं भी अपनी जीवनलीला पूर्ण करूँगा। मैं बिना भाई के क्षणमात्र भी नहीं जी सकता, तुम सबसे मैं क्षमा चाहता हूँ।" रामचन्द्र यों कह रहे थे कि

इतने में एक विद्याधर ने आकर हनुमान से कहा कि "मैं लक्ष्मण के जीने का उपाय बताता हूँ, मेरा कहना सुनो," हनुमान ने खुश होकर उससे पूछा कि "तुम जल्दी उपाय बताओ, लक्ष्मण की तबियत बहुत खराब है। विशेष बातचीत के लिए अवकाश न होने से मैं अभी क्षमा मांगता हूँ।" वह बोला कि "एक वक्त मुझे भी शक्ति लगी थी, तब उसे हटाने के लिए मुझ पर विशल्या के स्नान का जल छींटा गया था और जब कभी हमारे यहाँ किसी तरह की महामारी चलती है तब उसी के जल से शान्ति की जाती है। तुम भी वैसा ही करो," सुनकर हनुमान ने पूछा "विशल्या कहाँ रहती है?" विद्याधर कहने लगा कि-

"एक द्रोण नाम का राजा है वह भरत का मामा है, उसकी विशल्या नाम की कन्या है, तुम उसके पास जाओ।" हनुमान ने यह हाल रामचन्द्र से कहा। रामचन्द्र ने कहा "हो सके तो उपाय करो। उसमें अपनी हानि क्या है? और कुछ नहीं तो अब तक आशा तो है।" अस्तु, इसके लिए भामण्डल और हनुमान तैयार हुए। वे दोनों वहाँ से रवाना होकर अयोध्या पहुँचे और यह सब हाल उन्होंने भरत से कहा, उसे रावण पर बड़ा क्रोध आया। वह रावण से युद्ध करने के लिए अपनी सेना को तैयार होने के लिए आज्ञा देने लगा। उसे रोककर हनुमान ने कहा "यह अभी उचित नहीं है। पहले भाई के जिलाने का उपाय कीजिए। वह तुम्हारे मामा की विशल्या पुत्री के स्नान किये हुए जल से जी सकेगा।" भरत ने कहा "अभी रात है प्रातःकाल होते ही उसके शरीर का जल मैं तुम्हें ला दूँगा।" सुनकर हनुमान ने कहा- "तुम कहते हो, वह ठीक है परन्तु सूर्योदय का होना लक्ष्मण के लिए अच्छा नहीं है। अर्थात् जिसे शक्ति लगती है, उसका रात्रि के भीतर ही भीतर प्रतिकार यदि किया जाये, तब तो वह जी सकता है, अन्यथा उसका जीना मुश्किल होता है। इसलिए अभी जाकर ही जल लाना उचित है। उठिये विमान तैयार हैं, मैं भी आपके साथ-साथ चलता हूँ।" भरत उठे और विमान पर चढ़कर अपने मामा के यहाँ पहुँचे। सोते हुए द्रोण को उठाया और उससे सब हाल कहा, द्रोण ने उसी वक्त

विशल्या को बुलवाया और उससे कहा कि "बेटी! लक्ष्मण शक्ति के लगने से मूर्च्छित पड़ा है, तू अपने स्नान का जल जल्दी दे, जिससे वह सचेत हो सके।" पिता का कहना सुनकर विशल्या ने उनसे पूछा कि "पिताजी! ये लक्ष्मण कौन है?" द्रोण ने कहा लक्ष्मण "दशरथ और सुमित्रा का पुत्र और रामचन्द्र का छोटा भाई है। रावण ने उस पर शक्ति मारी है। इसलिए हनुमान तुम्हारे शरीर का गन्धजल लेने को आया है। तुम जल्दी इसे जल दो, जिससे यह ले जाकर जिलावे। दिन का निकलना उसके लिए अमंगलकारक है।" विशल्या ने कहा "पिताजी! आपसे अपनी धृष्टता की क्षमा चाहती हूँ। मैं लक्ष्मण के गुण सुना करती थी और उसी समय उन पर मुग्ध हो उन्हें मैंने अपने जीव के समझ लिये थे। आज अवसर है। मैं स्वयं ही उनके पास जाकर कर्तव्य पालन करती हूँ। आप मुझे आज्ञा दीजिए।" पिताजी की आज्ञा लेकर विशल्या हनुमान के साथ-२ आई। वह जैसे -२ लक्ष्मण के पास पहुंचने लगी, शक्ति वैसे - २ ही लक्ष्मण के शरीर से निकलती गई विशल्या ने जाकर लक्ष्मण के शरीर का स्पर्श किया कि, इतने में शक्ति उसके शरीर से निकल भागी। भागते समय उसे द्वारपर बैठे हुये हनुमान ने पकडी और क्रोध में आकर उससे कहा कि "बोल, अब तुझे क्या दण्ड दिया जाये? तूने हम लोगों को बडा तंग किया है। तू बहुत दिन में हाथ में आई, मैं तुझे अब नही छोडने का।" शक्ति हनुमान से हाथ जोडकर बोली कि "हे महात्मा! अब मुझे छोड दो, मैं आज से प्रतिज्ञा करती हूँ कि अब कभी आपकी सेना में नही आऊँगी । रामचन्द्र बड़े पुण्यशाली है। परन्तु अब उनका पुण्य सीमापर पहुँच चुका है।" हनुमान ने फिर उससे पूछा तू यह तो बता कि "तुझमें कितनी शक्ति है।" वह बोली कि "वीर! क्या तुम शक्ति नहीं जानते हो जो पूछते हो? अस्तु। सूर्य को पृथ्वी पर गिरा सकती हूँ। चन्द्रमा का ग्रास कर सकती हूँ, इन्द्र को रसातल में भेज सकती हूं, और अधिक क्या कहूँ, मैं यदि पांच सौ कोस की दूरी पर होऊँ, तो भी अपना असर वहीं से डाल सकती हूँ। आश्चर्य है कि वह असर आप पर पास रहते हुये भी बिल्कुल नही चलता।" हनुमान ने उससे फिर न आने की प्रतिज्ञा करवाकर

उसे छोड दी। उसने जाकर रावण से कहा कि "महाराज ! मैं अब कभी रामचन्द्र की सेना में नहीं जाउंगी क्यों कि उनके अपार पुण्य के सामने मेरा कुछ बल नहीं चलता है।" जब लक्ष्मण की मूर्च्छा दूर हुई, तब वह एकदम यह कहता हुआ उठा कि "मारो! मारो!! पकडो!!! देखो चोर रावण भागने न पावे।" लक्ष्मण को सचेत देखकर रामचन्द्र, सुग्रीव, भामंण्डल और हनुमान आदि को बहुत खुशी हुई। सभी ने बड़ा भारी आनन्दोत्सव मनाया। इसके बाद विशल्या का सब वृतान्त लक्ष्मण को सुनाकर उसके साथ उसका विधिपूर्वक विवाह कर दिया।

उधर रावण अष्टाहिक पर्व आया समझकर बहुरूपिणी विद्या साधने को अपने जिनमन्दिर में गया और ध्यान लगाकर अपना अभीष्ट सिद्ध करने लगा। यह हाल जब रामचन्द्र को मालूम हुआ तब वे अंगद से बोले कि अवसर अच्छा है, तुम जाओं और रावण की विद्यासिद्धि में विघ्न करो। उनके कहते ही अंगद अपने बहुत से साथियों को लेकर रावण की विद्या सिद्धि की जगह पहुंचा और घोर से घोर उपद्रव करना उसने आरंभ किये उसने अपनी करनी में किसी तरह की कसर न की, परन्तु धीर वीर रावण ने उसकी कुछ परवाह न की। जब वह रावण की कुछ हानि न कर सका, तब उसे निराश होकर वापिस अपने डेरे पर लौट जाना पडा, रावण ने अपना अनुष्ठान पूरा किया। उसे विद्या की सिद्धि हो गई। वह इस विद्या के द्वारा अनेक तरह के रूप बनाने लगा।

लक्ष्मण जब अच्छे हो गये , तब फिर रामचन्द्र ने रावण के पास युद्ध का आमंत्रण भेजा। वह उसी समय सजधजकर युद्धभूमि में आ गया। उसकी सेना विजय की इच्छा से आनन्द रव करने लगी। यह देखकर रामचन्द्र और लक्ष्मण भी अपनी सारी सेना को लेकर यूद्धभूमि में आये। दोनों ओर से अपनी – २ सेना को लेकर लड़ने की आज्ञा दी गई। परस्पर में दोनों सेनाओं की मुठभेड़ हुई। वीरपुरुष जीने की कुछ परवाह न कर युद्ध करने लगे। लक्ष्मण ने रामचन्द्र से कहा "पूज्य! आप यहीं ठहरें, मैं जाकर युद्ध करता हूँ।

रावण को अभी ही धराशायी बनाता हूँ।" रामचन्द्र लक्ष्मण के कहे अनुसार युद्धभूमि मे न जाकर बाहर ही ठहरे और लक्ष्मण युद्ध के लिये उतरा। लक्ष्मण और रावण का भीषण युद्ध होने लगा। परन्तु अभी किसी के सिर विजयमुकुट नही बँधा। रावण अबकी बार लक्ष्मण को अपने साथ बहुत देर तक युद्ध करता हुआ देखकर बहुत क्रोधित हुआ। उसने लक्ष्मण के ऊपर पन्नगास्त्र चलाया, उसे लक्ष्मण ने वारुणास्त्र से रोका। अबकी बार रावण ने तामसबाण चलाया, उसे लक्ष्मण ने सूर्यबाण से रोका। रावण दूसरा बाण छोड़ना ही चाहता था कि लक्ष्मण ने बडी फुर्ती से अपने अर्धचन्द्र बाण से उसका सिर काट दिया। सिर के कटते उसने दो सिर बनाये। लक्ष्मण ने अबकी बार दोनों सिर काट डाले उसने चार सिर बना लिये। गरज यह कि जैसे -२ रावण सिर बढ़ाता गया, वैसे लक्ष्मण उन्हें काटता गया। सच है कि विद्या से सब काम सिद्ध हो सकते हैं। यह देखकर रावण बड़ा क्रोधित हुआ। उसकी आंखें लाल -२ हो गईं और भृकुटियां चढ़ गईं। उसने लक्ष्मण की यह अपूर्व शक्ति देखकर और उसका साधारण उपायों से पराजित न होना समझकर चक्ररत्न को स्मरण किया। चक्र हाथ में आ उपस्थित हुआ। रावण के हाथ में चक्र आया समझकर लक्ष्मण की सेना उसके तेज को न सह सकी। वानरवंशी घबराये। सच है जिसकी हजारों देव सेवा करते रहते हैं, उससे किसे डर न होगा?

चक्र अपने हाथ में लेकर रावण ने लक्ष्मण से कहा- "अरे नीच! मेरे सामने से अलग हो, नहीं तो, अभी तुझे अपने घमण्ड का मजा बताये देता हूँ। देख, अब भी भाग जा अभी कुछ नहीं बिगड़ा है। मुझे तेरी इस अवस्था पर दया आती है। इसी से मैं तुझे अपनी रक्षा करने को कहता हूँ। तू बड़ा ढ़ीठ है, जो इतने पर भी सामने से अलग नहीं हटता।" सुनकर लक्ष्मण की भी क्रोधाग्नि धधक उठी। उसने भी रावण को सूखी - २ सुनाना आंरभ की। वह बोला कि तू बडा "मूर्ख है, जो इस कुम्हार के चक्र से अपने को धन्य और अजेय मान रहा है? अरे दरिद्र! तुझे लज्जा आनी चाहिए, जो इस चमकते

हुये कांच के टुकडे को पाकर जौहरी बनना चाहता है? चोरों के गुरू! तू राजा कहलाता है, फिर भी तुझे दूसरे की स्त्री लाते हुये लज्जा न आई? देखूं, मैं तेरे इस चक्र की ताकत! तू इसे खूशी के साथ चला। मैं तुझे अभी इसका प्रतिफल देता हूँ। समय क्यों खो रहा है, अपना काम पूरा क्यों नहीं करता?" लक्ष्मण के कहने से उसका क्रोध और अधिक बढ़ गया। उन्होने क्रोधान्ध होकर लक्ष्मण पर चक्र चला दिया। चक्र लक्ष्मण को कुछ भी हानि न पहुंचा कर उल्टा प्रदक्षिणा देकर उसके हाथ में आ गया। लक्ष्मण चक्र हाथ में लेकर रावण से बोला कि "पापी ! अब भी समय है। यदि तुझे अपनी जान प्यारी है, तो जाकर बड़े भाई के पावों पर गिर और अपना अपराध क्षमा करा, नहीं तो इसी चक्र से तेरे सिर के टुकडे -२ किये देता हूँ।" रावण का मुख उतर गया, परन्तु फिर भी उसने हिम्मत बांधकर लक्ष्मण से कहा "कि दूसरे की झूठी वस्तु पाकर भी इतना अभिमान! तुझे लज्जा आनी चाहिए, जो दूसरे के धन पर इतना कूद रहा है? तू अपने को अब अजेय समझता है तो समझ, मुझे इससे क्या? तू चक्र चला मैं अभी तेरे घमण्ड को चूर -२ किये देता हूँ। रावण चुप हुआ ही था कि लक्ष्मण ने चक्र उसके ऊपर फेंका। चक्र ने पहुँचते ही रावण के सिर को उसके धड़ से अलग कर दिया। रावण पुथ्वी पर धड़ाम से गिरा। उसके गिरते ही सेना में हाहाकार मच गया। अनाथ सेना जिधर रास्ता मिला, उधर भाग निकली। युद्ध का अन्त हुआ।

विभीषण ने भाई का अग्निसंस्कार किया। संसार की यह लीला देखकर इन्द्रजीत, मेघनाथ आदि उसी वक्त उदासीन होकर तपोवन में चले गये। उसी दिन से रामचन्द्र की कीर्तिपताका सारे संसार में फहराने लगी। लक्ष्मण ने चक्ररत्न की पूजा की। विभीषण को लंका का राज्य दिया गया। सब राक्षस वंशी रामचन्द्र से आकर मिले। भामण्डल सुग्रीव और हनुमान आदि को बहुत खुशी हुई। इसके बाद रामचन्द्र जी सीता से मिले। सीता ने स्वामी को नमस्कार किया। बहुत दिनों के बाद आज दोनों के विरह दुःख की इतिश्री हुई। रामचन्द्र ने सीता को पाकर अपने को कृतार्थ माना। दोनों का सुखसम्मिलन

हुआ। एक के देखने से एक को परम आनन्द हुआ। थोड़ी ही देर बाद वहीं लक्ष्मण भी आया और सीता के पावों पर गिर पड़ा। सीता उसे उठाकर कुशल समाचार पूछने लगी। लक्ष्मण ने अपनी सब कथा उसे कह सुनाई। सबको इस समागम से बड़ी खुशी हुई। यह बात ठीक है कि जिसे विरह से दिनरात दुःख उठाना पड़ाता है, वह जब दूर हो जाता है तब किसे आनन्द नही होता? रामचन्द्र और सीता के दिन पहले की तरह अब फिर भी सुख से बीतने लगे। जब रामचन्द्र का उज्जवल सुयश चारों ओर फैल गया तब, बहुत से राक्षसों ने आकर उनकी आधीनता स्वीकार की। उन्हें अच्छी -२ वस्तुऐं भेंट में दीं। विद्याधर उनकी सेवा करने लगे। इस सुख में रामचन्द्र के बहुत दिन बीत गये। उन्हें समय का कुछ ख्याल नहीं रहा कि कितने वर्ष के लिये अयोध्या छोडी थी। सो आज वह अवधि पूर्ण हुई। उन्हें अकस्मात् अपनी जन्मभूमि की याद आ गई। सच तो है

"जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी"

जैसे -२ समय बीतने लगा, वैसे -२ उसकी अभिलाषा अधिक -२ बढ़ती गई। अच्छा दिन देखकर उन्होंने अयोध्या के लिये गमन किया। उनके साथ -२ विभीषण, सुग्रीव, हनुमान और विराधित आदि बहुत से बडे -२ राजा गये। मार्ग में और भी बहुत से देशों को रामचन्द्र ने अपने वश किये। कुछ दिनों के बाद वे अयोध्या में जा पहुँचे। रामचन्द्र के आने के समाचार से अयोध्यावासियों को बड़ा आनन्द हुआ। उन्होंने अपने महाराज की खुशी में बहुत उत्सव किया। भरत उन्हें लिवाने को बहुत दूर तक आये और पहिले ही पहुंच कर उन्होंने दोनों के चरणों की अभिवन्दना की। रामचन्द्र ने भरत को आलिंगन कर उससे कुशलता पूछी। सब आनन्दित हुये। आज रामचन्द्र अयोध्या में प्रवेश करेगें, इसलिये सारी नगरी खूब सजाई गई। रामचन्द्र शहर में होते हुये अपने महल में पहुंचे। पहले सब माताओं से मिले। माताओं ने पुत्र की आरती उतारी। इसके बाद रामचन्द्र अपनी प्रजा से प्रेमपूर्वक मिले। सबको बहुत खुशी हुई। रामचन्द्र राज्य पालन करने लगे। इस खुशी में रामचन्द्र ने

मित्र भाई, बन्धु और विद्याधर आदि जितने अपने प्रेम पात्र थे, उन्हें बहुत सी जागीरें दीं। रामचन्द्र के शासन से प्रजा बहुत सन्तुष्ट हुई।

रामचन्द्र परस्त्री के पाप से रहित थे इसलिए उनकी कीर्ति सब दिशा में विस्तृत हो गई और रावण इसी परस्त्री के हरण से मरकर नरक गया। उसकी कीर्ति नष्ट हुई, उसके कुल में कलंक लगा और अन्त में दूसरे के हाथ से उसकी मृत्यु हुई। साराशं यह है कि परस्त्री सेवन से दोनों लोक बिगड़ते है, हजारों वर्ष का उज्जवल सुयश एक समय मात्र में नष्ट हो जाता है। शरीर रोगों का घर होकर जीर्णप्राय हो जाता है और फिर बुरी तरह मृत्यु होती है। इसलिये "हे बुद्धिमानों! परस्त्री से संसर्ग करना छोडों। जो परस्त्री के त्यागी हैं, वे संसार में निर्भय हो जाते हैं, उसकी कीर्ति सब जगह फैल जाती है। देखो, यही रावण त्रिखण्ड का स्वामी था, लंका सरीखी पुण्यपुरी इसकी राजधानी थी, उसके प्रताप से बडे -२ राजे महाराजे डरते थे। आज उसी वीर की केवल परस्त्री हरण के पाप से यह दशा हुई तो अन्य साधारण पुरुश परस्त्री व्यसन से कितना दुःख उठावेगें, यह अनुभव में धनहानि और शारीरिक कष्ट और परलोक में नरकादि कुगतियों के दुःख तो सहने ही पड़ते है। इसमें किसी तरह सन्देह नहीं है। वे मनुष्य नीच हैं जो दूसरो की स्त्री से अपनी बुरी वासना पूरी करते हैं। वे झूठा । खाने वाले कुत्ते हैं। भाइयों! परस्त्री सेवन सर्वथा छोड़कर अपनी ही स्त्री में सन्तोष करो। यही धर्म की पहली सीढ़ी है। इसी तरह बहुत सी कथाऐं परस्त्री के सम्बन्ध की हैं। उन सबका अभिप्राय केवल पाप प्रवृत्ति का छुड़ाना है। कथा के पढ़ने का फल यही है कि उससे कुछ शिक्षा ली जावे। केवल रटना किसी काम का नहीं है? वह तोते का सा रटना व्यर्थ है। अन्त में यह कहना है, कि इस पापाचार से होने वाली हानि का विचारकर उसके छोड़ने में उद्यमशील बनो, साधर्मी की संगति से अपनी रक्षा करो और साथ ही सर्व सुख का मूल कारण तथा चन्द्रमा की तरह शीतल जिन धर्म रूपी रत्न ग्रहण करो। इससे तुम्हारा भला होगा, सच्चे सुख की प्राप्ति होगी।

वहि गुनगहन, दहन दावानल सी है।

चन्द्रघनघटा, देह कृश करन खई है।।
देखन धूप, धरमदिन- सांझ समानी।
जंग निवास, बांबई वेद बखानी।।
इहविधि अनेक औगुन भरी, प्रानहरनफाँसी प्रबल।
मत करहु मित्र यह जान जिय, परवनितासौं प्रति पल।।

जो विचारशील महात्मा स्वर्ग और मोक्षका सुख चाहते हैं, उन्हें इन पाप व्यसनों का संसर्ग छोडना चाहिए। व्यसनो के छोड़ने पर ही वे धर्म ग्रहण करने के पात्र हो सकेंगे क्योकि, अविवेक और व्यसनों के सेवन करने वालों की अच्छी गति नहीं होती, वे सर्वत्र होते हैं और उनके द्वारा धर्म को भी कलंक लगता है।

न मुझे व्याकरण ज्ञान है न न्याय का और न ही मेरी पुराण और काव्यों में गति है। इसलिए संभव है इस ग्रन्थ में बहुत सी त्रुटियां होगी। विद्वानों से प्रार्थना है कि वे इस ग्रन्थ का संशोधन करें। इसके द्वारा भी सर्व साधारण लाभ उठा सकेंगे।

जो इसका अभ्यास करेंगे, अथवा बार बार मनन करेंगे और पढेगें वे सुखी हो वेंगे। उनकी बुद्धि दिनोंदिन वृद्धि को प्राप्त होती रहेगी और पापवासना उन्हें कभी छू तक नहीं सकती।

नन्दीतटगच्छ में श्री भीमसेन मुनि हो गये हैं, उनकी कृपा से मुझ मन्दबुद्धि ने यह ग्रन्थ रचा है। आगे और विस्तार करना सज्जनों के हाथ है।

मुझ मन्दबुद्धि सोमकीर्ति द्वारा बनाये हुये इस ग्रंथ को जो श्रद्धा और भक्ति सहित स्वाध्याय करेंगे, मन से सुनेंगे वे नियम से सुखसम्पति के भोगने वाले होंगे। विक्रम महाराज की मुत्यु के बाद १५२६ संवत् .....सुदी प्रतिपदा सोमवार के दिन मैंने इस ग्रन्थ को समाप्त किया है।

इस ग्रन्थ की श्लोक संख्या २१६७ है। जब तक संसार मेरूपर्वत, सूर्य

चन्द्रमा, पृथ्वी और समुद्र विद्यमान है तब तक इस ग्रन्थ का भी प्रचार दिनदूना और रात चौगुना बढ़ता जाय। सज्जन पुरूष इसका स्वाध्याय कर अपने जीवन को सफल करे।

।।समाप्तोऽयं ग्रन्थः।।

समाप्त

"णाणं पयासओ"

सूर्योदय होने से केवल तमोपुंज का ही अंत नहीं होता अपितु दिव्य प्रकाश का भी उदय होता है। प्रकाश जीवंतता का प्रतीक है, दिवाकर का प्रकाश दिव्यता का घोतक भी है, उसके माध्यम से प्राणी दिव्यता को प्राप्त करने में समर्थ होता है। प्रकाश को केवल ज्ञान का ही प्रतीक नहीं माना अपितु सुख का कारण भी स्वीकार किया गया है। इसीलिए न्याय ग्रन्थों में दीपक को स्वपर प्रकाशी निरूपित करते हुये ज्ञान की महिमा को प्रदर्शित किया है। जिस प्रकार प्रकाश के बिना अंधकार में जीया गया जीवन अनेक दुःख क्लेश, अशांति, वैमनस्यता, ईर्ष्या, विद्वेष, चिन्ता आदि विकारों को जन्म देने वाला होता है एवं दुष्कृत्यों का निमित्त कारण बन जाता है, उसी प्रकार चेतना में विद्यमान अंधकार मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम और दुःख रूप प्रवृत्ति कराने वाला होता है। बहिर्जगत में विद्यमान तमसावृत निशा का निराकरण करने के लिये आदित्य समर्थ होता है। अनेक चंद्रादि ज्योतिर्ग्रह आकाश में उदित होकर अपने अस्तित्व का बोध कराते हुये शीतल प्रकाश भी प्रदान करते है। चेतना के प्रदेशों पर विद्यमान मिथ्यात्वादि के अंधकार को दूर करने में सूर्यादि अनेक ग्रह भी समर्थ नहीं होते, आत्मप्रदेशों में विद्यमान अंधकार को सम्यक्त्व, सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र के तीन रत्न ही तिरोहित करने में समर्थ होते है। इन तीन रत्नों की प्राप्ति सर्वज्ञ, वीतरागी, प्राणी मात्र के लिए हितोपदेशी जिनेन्द्र देव के माध्यम से ही संभव है किन्तु, वर्तमान में दुखमा नाम का पंचमकाल उदयावस्था को प्राप्त है अतः भरत ऐरावत क्षेत्र में केवली भगवान का यहाँ सद्भाव संभव नहीं है, उनके अभाव में जिनवाणी भव्य प्राणियों के मिथ्यात्वादि अंधकार को दूर करने में समर्थ है। आ. पद्मनन्दी स्वामी जी ने

पद्मनंदीपंचविशतिका में लिखा है :-

सम्प्रत्यरित न केवली किल किलौ त्रैलोक्यचूड़ामणि -
स्तद्वाचः परमासतेऽत्र भरत क्षेत्रे जगद्योतिका ।
सद्रत्नत्रयधारिणो यतिवरास्तेषां समालम्बनं,
तत्पूजा जिनवाचिपूजनमतः साक्षाज्जिनः पूजितः ।।

वर्तमान में इस कलिकाल में तीन लोक के पूज्य केवली प्रभु इस भरत क्षेत्र में साक्षात् नहीं हैं तथापि समस्त भरत क्षेत्र में जगत्प्रकाशिनी केवली प्रभु की वाणी मौजूद है तथा उस वाणी के आधारस्तंभ श्रेष्ठ रत्नत्रयधारी मुनि भी हैं इसीलिए उन मुनि का पूजन तो सरस्वती का पूजन है तथा सरस्वती का पूजन साक्षात् केवली का पूजन है।

जिनवाणी का संवर्धन, संरक्षण एवं संस्थिति वर्तमान में निर्ग्रंथ साधु आदि चतुर्विध संघ से है। निर्ग्रंथ संत आदि आत्मसाधक जिनवाणी की दिव्य देशना के माध्यम से स्वपर के कल्याण करने में संलग्न हैं। जिनवाणी का प्रचार - प्रसार ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी कर्म के क्षयोपशम को ही वृद्धिगंत नही करता है अपितु मोहनीय कर्म के क्षयोपशम को वृद्धिंगत करने में भी कारण है तथा अशुभ आयु, अशुभ नाम, नीच गोत्र, असाता वेदनीय एवं अतंराय कर्म के बंधन से बचाने वाला है, आत्मकल्याण के मार्ग में आने वाले विघ्नों को विलुप्त करने वाला है। जिनवाणी के सम्यक् प्रचार - प्रसार से असातावेदनीय को सातावेदनीय में, अशुभ नामकर्म का शुभनामकर्म में, नीचगोत्र को उच्चगोत्र में संक्रमित भी किया जा सकता है। जिनवाणी के अध्ययन - अध्यापन से शुभास्रव, पुण्य का बंध, अशुभ का संवर एवं पूर्वबद्ध कर्मो की निर्जरा होती है।

वर्ष 2016 - 2017 हम परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानापयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी गुरुदेव के स्वर्ण जयन्ती वर्ष के रूप में अनेक धार्मिक अनुष्ठानों के साथ आयोजित कर रहे हैं। इसी श्रृंखला में आचार्य प्रणीत वर्तमान में अनुपलब्ध बहुपयोगी 50 शास्त्रों का प्रकाशन करने का संकल्प निर्ग्रंथ ग्रंथमाला समिति

आदि संस्थाओं ने लिया है। उसी क्रम में प्रस्तुत ग्रंथ चरित्र **सप्त व्यसन चरित्र** आपके श्री करकमलों में स्वपर हित की मंगल भावना से समर्पित है।

हमें आशा ही नहीं अपितु पूर्ण विश्वास है कि आप प्रस्तुत ग्रंथ के माध्यम से स्व पर कल्याण की भावना को वृद्धिंगत करते हुए जिनशासन की प्रभावना में भी निमित्त बनेंगे । सुधी पाठकों से सविनय अनुरोध है वे प्रस्तुत ग्रंथ **सप्त व्यसन चरित्र** से स्वकीय पात्रता के अनुसार आत्मा को पवित्र करने वाली सतत प्रवाही श्रुत गंगा से श्रुतामृत को ग्रहण कर उसका सदुपयोग ही करें । हंसवत् क्षीरग्राही दृष्टि बनाकर गुणों को ही ग्रहण करें, दोषों का परिमार्जन करने में तत्पर हों । प्रमादवश, अज्ञानतावश हुई त्रुटियों को या चूक को मल या चूक समझकर ही विसर्जित कर दें । आप जैसे सुधी पाठक इस ग्रंथ रूपी दधिका में उतरकर नवनीत को ही ग्रहण करें क्योंकि कोई, भी ग्वाल या गोपी छाछ ग्रहण करने के उद्देश्य से दधि मंथन नहीं करती । अतः आप भी तदैव प्रवृत्ति करें ।

मैं अंतस् की समग्र निष्ठा, भक्ति, समर्पण के साथ सर्वज्ञ देव, श्रुत सिंधु एवं निर्ग्रंथ गुरुओं के चरणों में अनंतशः प्रणाम निवेदित करता हूँ तथा परम पूज्य आचार्य श्री वसुनंदी जी गुरुदेव के पद कमलों में सिद्ध, श्रुत, आचार्य भक्ति सहित कोटिशः नमन करता हुआ उनके स्वस्थ संयमी जीवन की एवं आत्म ध्यान के संवर्द्धन की भावना करता हूँ।

प. पू अभीक्षण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनन्दी जी मुनिराज द्वारा रचित सम्पादित साहित्य

प्रथमानुयोग शास्त्र

1. नंगानंग कुमार चरित्र
2. मौन व्रत कथा
3. प्रभंजन चरित्र
4. चारूदत्त चरित्र
5. सीता चरित्र
6. सप्त व्यसन चरित्र
7. वीर वर्द्धमान चरित्र
8. देशभूषण कुलभूषण चरित्र
9. चित्रसेन पद्मावती चरित्र
10. सुदर्शन चरित्र
11. सुरसुन्दरी चरित्र
12. करकण्डु चरित्र
13. नागकुमार चरित्र
14. भद्रबाहु चरित्र
15. हनुमान चरित्र
16. महापुराण भाग - 1,2
17. श्री जम्बूस्वामी चरित्र
18. यशोधर चरित्र
19. व्रतकथा संग्रह
20. रामचरित भाग 1,2
21. रामचरित (संयुक्त प्रकाशन)
22. आराधना कथा कोष भाग 1,2,3
23. शांतिपुराण भाग 1,2
24. सम्यक्त्व कौमुदी
25. धर्मामृत भाग 1,2
26. पुण्यास्रव कथा कोष भाग 1,2
27. पुराण सार संग्रह भाग 1,2
28. सुलोचना चरित्र
29. गौतम स्वामी चरित्र
30. महिपाल चरित्र
31. जिनदत्त चरित्र
32. सुभौम चक्रवर्ती चरित्र
33. चेलना चरित्र
34. धन्यकुमार चरित्र
35. सुकुमाल चरित्र
36. क्षत्र चूड़ामणि (जीवंधन चरित्र)
37. चन्द्रप्रभ चरित्र
38. कोटिभद्र श्रीपाल चरित्र
39. महावीर पुराण
40. वरांग चरित्र
41. पाण्डव पुराण
42. सुशीला उपन्यास
43. भरतेश वैभव
44. पार्श्वनाथ पुराण
45. त्रिवेणी
46. मल्लिनाथ पुराण
47. विमलनाथ पुराण

काव्य शास्त्र

1. चैन की जिंदगी
2. हीरों का खजाना
3. कल्याणी
4. हाइकु
5. क्षरातीत अक्षर
6. न मैं चुप हूँ न गाता हूँ
7. मुक्तिदूत के मुक्तक

विधान/ पूजन साहित्य

1. शांतिनाथ विधान
2. अजितनाथ विधान
3. णमोकार महार्चना
4. दुःखों से मुक्ति (सहस्रनाम विधान)
5. चन्द्रप्रभ विधान
6. श्रद्धा के अंकुर
7. कलिकुण्ड पार्श्वनाथ विधान
8. श्री जम्बूस्वामी विधान
9. श्री वासुपूज्य विधान
10. संभवनाथ विधान
11. निर्ग्रन्थ विधान
12. पूजा - अर्चना

अन्य साहित्य

1. निज अवलोकन
2. धम्म रसायण
3. जिन श्रमण भारती
4. रयणसार
5. योगामृत भाग - 1,2
6. अध्यात्म तरंगिनी
7. योगसार भाग - 1,2
8. भव्य प्रमोद
9. सदार्चन सुमन
10. तत्वार्थ सार
11. तनाव से मुक्ति
12. आराधना सार
13. उपासका ध्ययन भाग - 1,2
14. नीतिसार समुच्चय
15. सिन्दूर प्रकरण
16. चार श्रावकाचार
17. स्वप्न विचार
18. समाधि तंत्र
19. धर्मरत्नाकर
20. विद्यानंद उवाच
21. डाक्टरों से मुक्ति
22. आ जाओ प्रकृति की गोद में
23. तत्त्वज्ञान तरंगिणी
24. सार समुच्चय
25. प्रबोध सार
26. भगवती आराधना
27. कुरल काव्य

28. प्रकृति समुत्कीर्तन
29. कर्म प्रकृति
30. व्रताधीश्वर रोहिणी व्रत
31. अन्तर्यात्रा
32. श्री शांतिनाथ भक्तामर सम्मेदशिखर विधान
33. अरिष्ट निवारक विधान संग्रह
34. पंचपरमेष्ठी विधान
35. तत्त्वभावना
36. सुख का सागर चालीसा संग्रह
37. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार
38. भावत्रय फलदर्शी
39. तनाव से मुक्ति - भाग -1 (भजन)
40. इक दिन माटी में मिल जाना (भजन)
41. कर्म विपाक
42. सरस्वती आराधना
43. जैन वर्णमाला

प्रवचन साहित्य

1. सीप का मोती (महावीर जयंती)
2. चूको मत
3. जय बजरंग बली
4. शायद यही सच है
5. वसुनंदी उवाच (प्रवचनांश)
6. सम्राट चन्द्रगुप्त
7. जीवन का सहारा
8. तैयारी जीत की
9. श्रुत निर्झरी
10. उत्तम क्षमा
11. मान महा विष रूप
12. तप चाहें सुर राय
13. जिस बिना नहीं जिनराज सीजें
14. निज हाथ दीजे साथ लीजे
15. परिग्रह चिंता दुःख ही मानो
16. रंचक दगा बहुत दुःख दानी
17. लोभ पाप को पाप बखानो
18. सत्यवादी जग में सुखी
19. उत्तम ब्रह्मचर्य
20. नारी का धवल पक्ष
21. आईना मेरे देश का
22. दशामृत
२३. न पिटना बुरा है न मिटना
24. गुरुत्त - 1,2,3,4
25. मीठे प्रवचन - 1,2,3,4
26. बोधि वृक्ष
27. खोज क्यों रोज रोज
28. धर्म की महिमा
29. सफलता के सूत्र
30. आज का निर्णय (प्रवनांश)
31. गुरु कृपा
32. गुरुवर तेरा साथ (प्रवनांश)
33. स्वाति की बूँद
34. गागर में सागर (प्रवनांश)
35. खुशी के आंसू

अनुवादित साहित्य

1. वसु ऋद्धि
2. तत्त्वोपदेश (छहढ़ाला)
3. दिव्य लक्ष्य
4. पंचरत्न
5. गुणरत्नाकर (रतनकरण्डक श्रावकाचार)
6. तत्तवार्थ सूत्र
7. विषापहार स्तोत्र
8. मूलाचार प्रदीप
9. पुरुषार्थ सिद्धियुपाय
10. जिनकल्पि सुत्रम

रचित साहित्य

1. हमारे आदर्श
2. आहार दान
3. सर्वोदया नैतिक धर्म
4.कलम पट्टी बुद्धिका
5. धर्म संस्कार
6. णंदिणंद सुत्तं
7. जिन सिद्धान्त महोदधि
8. सद्गुरु की सीख
9. धम्मस्स सुत्ति सग्गहो
10. आधुनिक समस्यायें
    प्रामाणिक समाधान
11. धर्म बोध संस्कार - 1,2,3,4
12. संस्कारादित्य
13. दान के अचिन्त्य प्रभाव
14. रट्ठसंति महाजग्गो

प्रेस में

1. तच्च सारो
2. विणय सारो
3. रदण काण्डो
4. नौ निधि
5. धर्म संस्कार भाग -2
6. सुभाषित रत्न संदोह

प.पू.आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज के जीवन चरित्र पर आधारित साहित्य

1. समझाया रविन्दु न माना
2. दृष्टि दृश्यों के पार
3. पग वंदन
4. अक्षर शिल्पी
5. वसुनंदी प्रश्नोत्तरी (प्रेस में)

निर्ग्रंथ ग्रंथ माला समिति (रजि.) द्वारा
वर्ष 2017 –18 में प्रकाशित होने वाले ग्रंथों के
प्रकाशन में सहयोग करने वाले पुण्यार्जक श्रेष्ठीगण

1. अनिल कुमार जैन (नेपाल)
2. डा. नीरज जैन (दिल्ली)
3. रमेशचन्द गर्ग जैन (दिल्ली)
4. रिषभ जैन रोहिणी (दिल्ली)
5.अनीता जैन ग्रीनपार्क (दिल्ली)
6. पी.सी जैन कोसीवाले (दिल्ली)
7. निकुंज जैन ग्रेटर कैलाश (दिल्ली)
8. राजीव जैन सी.आर.पार्क (दिल्ली)
9. प्रवीन जैन (टोनी) (दिल्ली)
10. श्रवण कुमार जैन ग्रीन पार्क (दिल्ली)
11. मुकेश कुमार जैन यमुना विहार (दिल्ली)
12. मीनू जैन (दिल्ली)
13. रश्मीकान्तसौनी जैन (दिल्ली)
14.आशूतोष जैन (दिल्ली)
15. पूरनचंद जैन (अजमेर)
16. नवनीत जैन यमुना विहार(दिल्ली)
17. डा.अरूण कुमार जैन (यू.एस.ए.)
18. योगेश जैन (मेरठ)
19. अजय जैन (मेरठ)
20. अक्षत जैन (मेरठ)
21. राकेश जैन रेसवाले (मेरठ)
22. विपिन जैन असोड़ावाले (मेरठ)
23. अंकुर जैन अरहंत ज्वैलर्स (मेरठ)
24.अशोक जैन शाह बजाज (अजमेर)
25.विरेन्द्र जैन (बाड़मेर)
26.गोरव जैन (एटा)
27.महावीर जैन संदीप जैन (फिरोजाबाद)
28.सौनू जैन स्पोर्टस (फिरोजाबाद)
29.विनोद जैन मिलेनियम (फिरोजाबाद)
30. अनिल जैन (ग्वालियर)
31. पवन चौधरी (अलवर)
32. विजय जैन (अलवर)
33. रमेश जैन (अलवर)
34. घनश्याम जैन (अलवर)
35. अशोक जैन शास्त्रीपार्क (अलवर)
36. सुरेन्द्र जैन (अलवर)
37. गुलाबचंद्र जैन गुलाबी मसाला (अलवर)
38. अरूण जैन (अलवर)
39. एन.के.जैन (अलवर)
40. दिलीप जैन (अलवर)
41. पवन जैन (अलवर)
42. मनोज कुमार जैन (अलीगढ़)
43. डी.के जैन महागुन (नोएडा)
44. अजय जैन सेक्टर 61 (नोएडा)
45. अनिल जैन सेक्टर 41 (नोएडा)
46. सचिन जैन वैशाली (गाजियाबाद)
47. दर्शनदयाल जैन (हापुड़)
48. चंद्रसैन जैन (पलवल)
49. औमप्रकाश जैन (कोसी)
50. श्रीमती रजनी जैन (कामां)

मीठे प्रवचन

"सत्य और सत्यार्थी"

सत्य और सत्यवादी शूली तक पहुँच सकते हैं, पहुँचे भी हैं किन्तु सत्य और सत्यार्थी को कभी शूली/ फाँसी लगती नहीं है तथा असत्य और असत्यार्थी सिंहासन तक पहुँच सकते हैं, किन्तु सिंहासन पर सुख पूर्वक नहीं बैठ सकते । यदि असत्य सिंहासन पर बैठ जाये या सिंहासन पर बैठ कर असत्य का सहारा ले तो वह सिंहासन सहित रसातल को चला जाता है। असत्यवादी राजा वसु, सत्यघोष, रावण, कंस की तरह दुर्गति/ अधोलोक को ही प्राप्त होते हैं। सत्य चाहे सिंहासन के पास हो या शूली के पास किन्तु वह सत्य - सत्य ही है, असत्य चाहे सिंहासन के पास हो या शूली के पास वह असत्य - असत्य ही रहेगा उसे तीन काल में भी सत्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती । सोना अग्नि में भी सोना है, कागज की पुड़िया में रखा लोहे का टुकड़ा लोहा ही है, रत्न अलमारी में हो या नाली में पर वह रत्न ही कहलायेगा, पर काँच का टुकड़ा भले ही किसी आभूषण में लगाया जाए वह काँच ही है उसमें हीरे के लक्षण नहीं आ सकते हैं।

आचार्य वसुनंदी मुनि

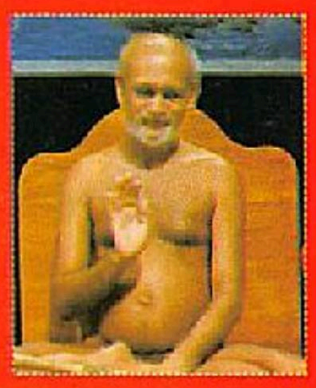

जन्म :
3 अक्टूबर 1967
बिरोंधा,तहसील-धौलपुर
जिला भरतपुर(राज.)

दीक्षा :
11 अक्टूबर 1989
मिण्ड (म.प्र.)

उपाध्याय पद :
17 फरवरी 2002
विश्वास नगर दिल्ली

एलाचार्य पद :
1 अप्रैल 2009
ग्रीनपार्क दिल्ली

आचार्य पद :
3 जनवरी 2015
कुंद- कुंद भारती दिल्ली

गुरु :
प.पू. राष्ट्रसंत,
सिद्धांत चक्रवर्ती
दि. श्वेतपिच्छाचार्य
श्री 108 विद्यानंद जी
मुनिराज

अकलबाजी में दखलबाजी ठीक नहीं

कोई व्यक्ति अपना काम बुद्धिपूर्वक सोच समझकर कर रहा है, भविष्य में आने वाली प्रतिकूलता व अनुकूलता को भी जान चुका हैं उसका प्रतिफल व समाधान सोचकर अपना कार्य कर रहा है तो आप उसमें दखलंदाजी न करो, आप अपने को श्रेष्ठ समझ कर टोको मत, यदि आप श्रेष्ठ है तो उससे भी श्रेष्ठ कार्य सहजता में ही सम्पन्न कर अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करो, किन्तु बिना माँगे तुमकों सलाह नहीं देना है, बिना माँगे जो सलाह दी जाती है उसका कोई महत्व नहीं होता, यदि वास्तव में ही आप योग्य है तो उस कार्य के संबंध में सलाह लेने के लिए व्यक्ति स्वतः आयेगा, कभी - कभी ठोकर भी व्यक्ति को सही बता कर मंजिल तक पहुँचा देती है कहा भी है -

ठोकरे खाई है जिन पत्थरों से मैने,
मंजिल के निशा भी उन्हीं पत्थरों से मिले ।

आचार्य वसुनंदी मुनि
की विशेष कृति मीठे प्रवचन से

SATYARTHI MEDIA 9058017645